(१५) दंडी की अवंतिसुंदरी-कथा

[लेखक श्रीयुत पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए०, काशी ।]

दक्षिण भारत प्राचीन संस्कृत पुस्तकों का सुरक्षित गृह है । उत्तरीय भारत में विधर्मी मुसलमानों के भयंकर उपद्रवों के कारण प्राचीन पुस्तकों का पता बहुत कम लगता है; परन्तु दक्षिण में जहाँ ऐसे उपद्रव कम हुए थे, अभी तक प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं । हाल ही में मालाबार प्रदेश में दो हस्त-लिखित पुस्तकों की उपलब्धि हुई है, जो संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्व की प्रतीत होती हैं । अब ये पुस्तकें गवर्नमेण्ट ओरिएन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी (Government Oriental Mss. Library) में सुरक्षित हैं । पहली पुस्तक बड़ी बुरी दशा में पाई गई है । न तो यह पूर्ण है और न कहीं ग्रंथकार ही का नाम-निशान पाया जाता है । हाँ, इसके प्रारम्भ में हर्ष-चरित की तरह प्राचीन कवियों का वर्णन श्लोकों में पाया गया है । शेष भाग गद्य में लिखा गया है, परन्तु ग्रंथ पूर्ण नहीं हुआ है । दूसरे ग्रंथ के आधार पर इसका नाम 'अवन्तिसुंदरी-कथा' तथा रचयिता महाकवि दंडी माने गए हैं ।

दूसरा ग्रंथ कुछ अच्छी दशा में प्राप्त हुआ है। यह प्रायः अनुष्टुप् छंदों में रचा गया है, पर सर्गान्त में भिन्न भिन्न वृत्त भी हैं। ग्रंथ के आदि के छः परिच्छेद तो बिल्कुल ही शुद्ध तथा पूर्ण पाए गए हैं, पर सप्तम परिच्छेद खण्डित है। यह भी पहले ग्रंथ की तरह पूरा तो नहीं है, परंतु इतना त्रुटित भी नहीं है कि समग्र ग्रंथ के विषय को समझने

में किसी तरह की बाधा हो। रचयिता का नाम इसमें भी गायब है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर ज़रूर ही ग्रंथकार के विषय में कुछ कहा जा सकता है। ग्रन्थ के प्रत्येक सर्गान्त में भारवि के 'लक्ष्मी' शब्द, माघ के 'श्री' शब्द तथा प्रवरसेन के 'अनुराग' शब्द की भाँति 'आनंद' शब्द सर्वदा प्रयुक्त हुआ है। भोज के शृङ्गारप्रकाश में सर्गान्त में 'आनंद' शब्द का प्रयोग करनेवाले 'शूद्रक-कथा' के रचयिता 'पंचशिख' का उल्लेख पाया जाता है *। तो क्या इस शब्द-प्रयोग-साम्य से पंचशिख इसके रचयिता माने जा सकते हैं? ग्रंथकार के विषय में ऐतिहासिक सामग्री की कमी हो, परंतु ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से उसके संबंध में बहुत कुछ पता लगता है। सौभाग्यवश ग्रंथ का नाम 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' दिया गया है, जिससे यह पहले ग्रन्थ का छन्दोबद्ध सारांश प्रतीत होता है। इसके पहले परिच्छेद में दण्डी के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। इस उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की चर्चा आगे की गई है।

भारवि और दंडी

संस्कृत महाकाव्यों में किरातार्जुनीय का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। इसके रचयिता महाकवि 'भारवि' हैं, जिनकी अर्थ—गाम्भीर्यमयी कविता का आस्वादन कर प्रत्येक सहृदय अपने को कृतकृत्य समझता है। साहित्यिक दृष्टि से हम भारवि के विषय में समग्र ज्ञातव्य विषयों से परिचित हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक भारवि का समय गाढ़ अंधकार के आवरण से ढका हुआ है। भारवि का सब से पहला उल्लेख दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोले के शिलालेख में मिलता है, जो ६३४ ई० का लिखा हुआ है †। इस उल्लेख

---

* Ramkrishna Kavi: Avanti Sundari Katha of Dandi, Proceedings of Second Oriental Conference, p. 193.

† येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिन वेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

से इतना ही ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारवि की प्रसिद्धि खूब हो चली थी; इनका नाम महाकवि कालिदास के साथ बड़े आदर के साथ लिया जाता था; तथा ये उनके ही समान उन्नत साहित्यिक स्थान पाने के पूरे अधिकारी थे।

परन्तु इससे भारवि के आविर्भाव-काल का यथोचित पता नहीं लगता। ६३४ ई० के कितने वर्ष पहले भारवि ने भारत भूमि की शोभा बढ़ाई थी, यह ठीक ठीक उपर्युक्त लेख से ज्ञात नहीं होता। एक दूसरे शिलालेख से भी भारवि का समय अनिश्चित हो रह जाता है। यह शिलालेख * पश्चिमी गंगावंशी राजा दुर्विनीत के समय का है। इसमें स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि राजा दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका की। इस उल्लेख से यत्कथंचित् भारवि का समय निर्णीत भी किया जा सकता था, परंतु डा० फ्लीट जैसे प्रामाणिक पुरातत्ववेत्ताओं की सम्मति में यह लेख बिल्कुल जालसाजी है; इसमें कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं†। ऐसी स्थिति में भारवि के विषय में ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता।

परन्तु अब इस प्रश्न के निर्णायक साधन की उपलब्धि हुई है, जिससे न केवल भारवि के समय का ही ठीक ठीक निश्चय हो जाता है, वरन् उनके कुटुम्ब तथा पारिवारिक जीवन पर भो यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह साधन है दण्डिकृत यही अवन्तिसुंदरी-कथा तथा इसका पद्यबद्ध अवंतिसुंदरी कथासार नामक संक्षिप्त सारांश। इस दूसरी पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में महाकवि दण्डी की कई पीढ़ियों का इतिहास दिया

---

* श्रीमत्कोंगणि महाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण पुन्नाटराज स्कंदवर्मप्रिय-त्रिका जन्मना..'शब्दावतारकारेण देवभारती निबद्धवड्ढकथेन, किरातार्जुनीये, पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीत नामधेयेन।

—Mysore Archeological Report 1916 p. 36

† डा० फ्लीट ने पश्चिमी गंगावंशियों के दानपत्रों के संबंध में जो कुछ उद्गार प्रकट किए है, वे बहुधा हठधर्मी से पूर्ण है, अतएव वे ज्यों के त्यों मानने योग्य नहीं हैं। सं०

हुआ है। यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से बहुमूल्य है। इससे भारवि के विषय में पक्की पक्की ऐतिहासिक बातों का पता लग जाता है।

इससे जान पड़ता है कि 'भारवि' किरातार्जुनीय के रचयिता का उपनाम मात्र था। इनका असली नाम था—दामोदर। इनके पूर्वज पश्चिमोत्तर देश (गुजरात) के सर्वश्रेष्ठ नगर आनन्दपुर में निवास करते थे*। वहाँ से किसी कारणवश वे लोग नासिक हट आए तथा कालांतर में अचलपुर (संभवतः आधुनिक एलिचपुर) में अपना निवास नियत किया। इन्हीं कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों में नारायण स्वामी नामक पंडित हुए थे जिनके मेधावी पुत्र हमारे कविवर भारवि हैं। पहले पहल भारवि ने राजकुमार विष्णुवर्धन की सभा को सुशोभित किया और उनके कृपा-भाजन हुए थे। यह राजकुमार दक्षिण के इतिहास में कुब्ज

---

* अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिरोरत्नं यत्रासन् बहवो नृपाः॥
ततोभिनिसृता काचित् कौशिकब्रह्मसंततिः।
सुरलोकादिवायांती पुण्यतीर्थसरस्वता॥
नासिक्यभूमावौत्सुक्यन्मूलदेव निवेशिताम्!
प्राप्याचलपुरं......रीमधि वसत्यसौ॥
तस्यां नारायणस्वामी नाम्ना नारायणोदरात्
दामोदर इति श्रीमान् आदिका...भवेत्॥
स मेधावी कविविद्वान् भारवि: प्रभवं गरान्
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेंद्रे **विष्णुवर्धने**॥

×　　×　　×　　×　　×

स **दुर्विनीत** नामासीत् अन्वर्थाभिधानवान् तस्यान्तिके वसत्येषः।......॥

×　　×　　×　　×　　×

अनेक श्री मुखाकृष्ट करोदमुमात्मसात्।

×　　×　　×　　×　　×

अस्ति प्रासाद विस्तार ग्रस्तव्योमान्तरा पुरी।
काञ्चीपुराख्या कल्याणी ककुभां कुम्भजन्मनः।
तस्यां जज्ञे बुधव्रात ध्वस्ताखिलपल्लवः
पल्लवेषु महीपालः **सिंहविष्णु**रिति श्रुतः।

विष्णुवर्द्धन* के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह प्रथमतः अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रसिद्ध महाराज पुलकेशी द्वितीय का प्रतिनिधि बनकर महाराष्ट्र का शासन करता था। ६१६–१७ ई० के आसपास यह महाराष्ट्र ही में रहता था, क्योंकि इस वर्ष में इसने अपने भ्राता के प्रतिनिधि रूप से एक ताम्रशासन जारी किया था †। अनंतर इसने तेलिंगाना में जाकर वेंगी में एक नवीन राज्य की स्थापना की जो इतिहास में पूर्वीय चालुक्य (Eastern Chalukya of Vengi) के नाम से परवर्तीकाल में खूब प्रसिद्ध हुआ। जब यह केवल राजकुमार था, तभी महाराष्ट्र में इससे भारवि का परिचय हुआ था। अनन्तर इसने आखेट के अवसर पर कविवर से मांस खाने के लिये आग्रह किया। कवि ने इसके आश्रय की अवहेलना कर दुर्विनीत राजा के यहाँ आसन जमाया। इस नाम का राजा पश्चिमी गंगावंशीय Western Ganga नरेशों में अत्यंत प्रसिद्ध था जिसने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इस राजा का समय सातवीं सदी का प्रथम चतुर्थ भाग माना जाता है। यह सरस्वती के वरपुत्रों का आश्रयदाता ही नहीं था, वरन् स्वयं भी सरस्वती का उपासक था। यह संस्कृत के अतिरिक्त पैशाची भाषा का भी ज्ञाता जान पड़ता है, क्योंकि इसने गुणाढ्य रचित प्रसिद्ध बृहत्कथा का अनुवाद देवभारती—संस्कृत—में किया था। यह भारवि का आश्रयदाता अवश्य था; इसकी यथोचित पुष्टि इस घटना से होती है

* उक्त पुस्तक में उल्लिखित नरेंद्र विष्णुवर्द्धन चालुक्य पुलकेशी द्वितीय के भाई कुमार विष्णुवर्द्धन से कोई भिन्न राजा होना चाहिए, क्योंकि इसी लेख में ऊपर जो अवतरण दिया है, उसमें विष्णुवर्द्धन को 'नरेंद्र' कहा है, न कि कुमार। दूसरी बात यह भी है कि जब वह सितारे के आस पास के प्रदेश पर अपने भाई की ओर से शासन कर रहा था, उस समय के अपने दानपत्र में वह अपने को 'युवराज' लिखता है। तीसरी बात यह भी है कि यदि भारवि पुलकेशी के समय में ही जीवित होता, तो उसकी कालिदास के समान प्रसिद्धि उसी समय में नहीं हो सकती थी। सं.

† Satara Grant; Indian Antiquary, Vol. XIX. p. 303.

कि इसने स्वयं किरातार्जुनीय के सब से कठिन, अर्थ-गंभीर तथा श्लेष-प्रधान पंद्रहवें सर्ग की सुबोध टीका लिखी थी। इसने अवश्य ही भारवि के सहवास से किरात का उचित मंथन किया था; तभी तो सर्वक्लिष्ट सर्ग की टीका लिखने को उद्यत हुआ। अतएव यदि हम कहें कि भारवि ने ६२०—२५ तक इसकी सभा की शोभा बढ़ाई, तो अनुचित न होगा। अनंतर अत्यंत आग्रह करने पर भारवि काञ्ची के पल्लव नरेश सिंहविष्णु के पास आकर रहने लगे। काञ्ची के पल्लव राजा सदा से विद्याप्रेमी होते आए हैं। अनेक विद्वानों को उन्होंने आश्रय देकर संस्कृत साहित्य का अत्यंत उपकार किया है।

सिंहविष्णु तो इस वंश का प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा है। संभवतः इसी के सुयोग्य पुत्र महेंद्रवर्मा ने 'मत्तविलास' नामक प्रहसन की रचना की *। यदि वास्तव में महेंद्रवर्मा भारवि के आश्रयदाता का पुत्र हो तो यह मानने में आपत्ति नहीं दिखाई देती कि इसने संभवतः भारवि से विद्या का अभ्यास तथा कविता का अध्ययन किया होगा। सिंहविष्णु का समय ६२० से ६२७ ई० तक माना जाता है। संभवतः राज्य के अंतिम समय में ही भारवि का इस पल्लव राजा के साथ साक्षात्कार हुआ था।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यही है कि भारवि की जन्मभूमि महाराष्ट्र प्रदेश है। हिमालय का वर्णन करने से इन्हें उत्तरीय भारत में घसीट लाना उचित नहीं। इनके आविर्भाव का समय छठी शताब्दी का

---

* यह प्रहसन 'अनंतशयन ग्रंथावली' में ट्रिवेंड्रम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूत्रधार कहता है:—

भवति श्रूयताम्। पल्लवकुल तिलकधरनि मंडलकुल पर्वतस्य...श्रीमद्दिमानुरूपदानविभूतिपरिभूत राजराजस्य श्री सिंहविष्णुशर्म्मणः पुत्रः शत्रुषड्वर्गनिग्रहपरः परहित परतंत्रतया महाभूतसधर्मा महाराज; श्री महेंद्रविक्रमवर्मा नाम।

उत्तरार्द्ध तथा सप्तम शताब्दी का प्रथम चतुर्थ भाग है। ६१० के आस पास ये महाराष्ट्र में विष्णुवर्धन के आश्रय में थे। ६२० ई० के समीप कर्नाटक में गंगावंशीय दुर्विनीत की सभा में रहे तथा ६२५ में तेलगु प्रांत में पल्लव-नरेश सिंहविष्णु की सभा की शोभा बढ़ाते थे तथा काञ्ची में ही अपना निवासस्थान बनाकर रहने लगे थे। इसी ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि हुई है।

दंडी का जीवन-वृत्तान्त

दंडी के विषय में इस कथा से निम्नलिखित बातों का पता लगता है।

कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था *। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सब से छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दंडी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गए थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनंतर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

---

* मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धनः
ततस्तनूजाश्चत्वारः सद्वेदा इवाभवन्।
श्री वीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्धनः
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥
ततः कथंचित् सा गौरी द्विजाधिपशिखामणेः
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत।
स बाल एव मात्रा च पित्रा चापि व्ययुज्यत॥

संक्षेप में महाकवि दण्डी का वंशवृत्त अवन्तिसुन्दरी-कथा के आधार पर नीचे दिया जाता है:—

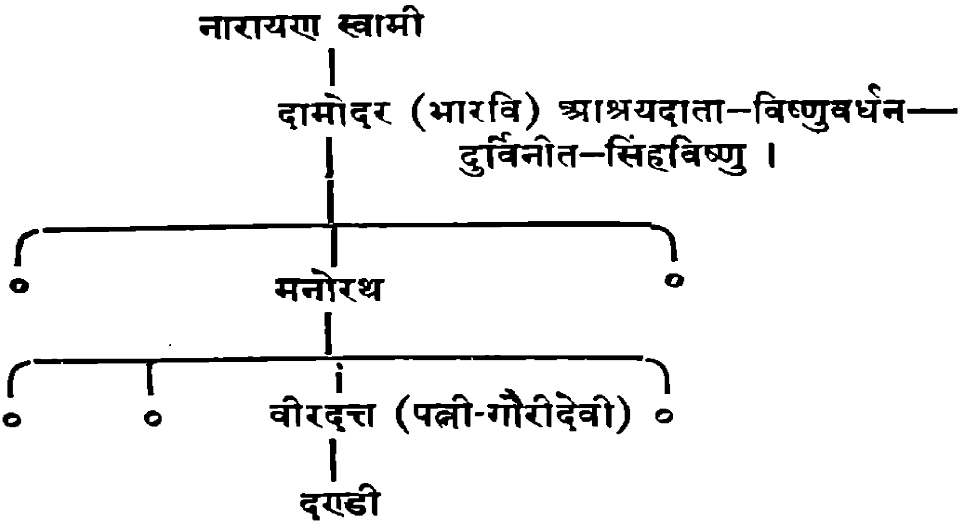

इससे स्पष्ट है कि महाकवि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे। इस वर्णन से (यद्यपि यह बहुत ही थोड़ा है) दण्डी के अंधकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का संबंध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिंदुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यंत शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस ग्रन्थ से दक्षिण भारत की एक किंवदंती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किंवदंती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दंडी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्गाह्वया नृपाः ॥

(पृ० ३०, श्लोक ११४)

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती।

दंडी का समय

दण्डी के आविर्भाव काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। अलंकार-साहित्य के इतिहास में इससे बढ़कर विवाद का विषय और कोई नहीं। भामह के काव्यालंकार में दंडी से अनेक समानता तथा विभिन्नता होने से यह प्रश्न और भी उलझन में पड़ गया है। अभी तक इसका निश्चय नहीं हो सका। कोई उन्हें भामह के पहले मानकर छठी शताब्दी के आरंभ का ग्रंथकार मानते हैं तो कोई भामह के अनंतर मानकर सातवीं सदी में रखते हैं। इस विवाद के निर्णय में अवन्तिसुंदरी-कथा कितनी सहायता दे सकती है, इसका कुछ विचार किया जाता है।

नवम शताब्दी के ग्रंथों में दंडी का नामोल्लेख पाए जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघाली भाषा के अलंकार-ग्रंथ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है *। इसका रचयिता, राजा सेन प्रथम, महावंश के अनुसार ८४६—६६ तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ी भाषा के अलंकार-ग्रंथ 'कविराजमार्ग' में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इस ग्रंथ के संस्कारक श्री के० बी० पाठक ने इसकी भूमिका में स्पष्ट दिखलाया है कि इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से हुबहू नकल किए गए हैं या कहीं कहीं कुछ परि-

* डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५

वर्तित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण भी दंडी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रंथ के लेखक अमोघवर्ष का समय ८१५ के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनंतर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह तो निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दंडी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्य लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगंवचः' में दंडी ने साफ तौर पर—'इति' शब्द के प्रयोग से यहा जाना जाता है—कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण पेश किया है। अतः इनके कालिदास के अनंतर होने में तो संदेह का स्थान ही नहीं है; परंतु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के अनंतर के भी प्रतीत होते हैं।

अरलालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।

काव्यादर्श के इस पद्य में पिटरसन तथा जैकोबी की सम्मति में कादंबरी में चंद्रापीड़ को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की छाया देख पड़ती है। आगे दिखलाया जायगा कि दंडी ने मयूरभट्ट के साथ बाण को भी प्रशस्त प्रशंसा की है * तथा कथा में 'कादंबरी' का वर्णन भी बाण की प्रसिद्ध कथा के बिल्कुल अनुरूप है। अतः मेरी सम्मति में दंडी की बाणभट्ट (७ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) के अनंतर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती। प्रो० पाठक की राय में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्यहेतु का विभाग वाक्यप्रदीप के कर्त्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है †। कहा गया है कि भामह-दंडी

---

* भिन्नस्तीक्ष्ण मुखेनापि चित्रंबाणेन निर्व्यथः। व्यहारेषु जहौ लीलां न मयूर ..।

† पाठक—इंडियन ऐंटिक्वेरी १९१२ ई०।

का प्रश्न अभी तक अनिश्चित दशा में है; तथापि मेरा विश्वास है कि दंडी का समय भामह के अनंतर है *। भामह ने धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण को उद्धृत कर उसका खंडन किया है। अतएव यदि भामह धर्मकीर्ति (६४४–७०) के अनंतर माना जाय, तो स्पष्ट है कि दंडी का समय सातवीं सदी का अंत तथा आठवीं का प्रारंभ माना जा सकता है। इसी स्थान पर अवंतिसुंदरी-कथा की अमूल्य सहायता का यथेष्ट अनुभव होता है। ऊपर दिए गए सिद्धांत को यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित कर रही है। यह भी दिखाया गया है कि दंडी भारवि की चौथी पीढ़ी में हुए थे। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये कम से कम २० वर्ष भी मानें, तो भी दंडी का समय भारवि से करीब अस्सी वर्ष के अनंतर ठहरता है। भारवि यदि सातवीं सदी के आरंभ में विद्यमान थे, तो दंडी उस सदी के अंत तथा आठवीं के आरंभ में होंगे। ऊपर दिखाया गया है कि इस समय को निश्चित मानने से संस्कृत-साहित्य की निश्चित घटनाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य † तथा डाक्टर बेलवल्कर ‡ ने भी इन दोनों की एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैवधर्म के उत्तेजक पल्लव-राज नरसिंह वर्मा का समय ६९०–७१५ माना जाता है × जो दंडी के लिये निश्चित किए गए समय से यथेष्ट अनुरूपता रखता है।

* जो लोग भामह-दंडी के प्रश्न के विषय में अधिक जानना चाहें, वे काणे कृत साहित्य-दर्पण की भूमिका पृ० २५ तथा डाक्टर सुशील कुमार दे रचित History of Sanskrit Poetics देखें।

† Indian Antiquary, 1912 p 90.

‡ Notes on काव्यादर्श 2nd. chapter P. 176–77.

× G. Jon-Vean Dubreul, Ancient History of the Deccan, p. 70.

दंडी के ग्रंथ

राजशेखर के 'त्रयो दण्डिप्रबंधाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुताः' के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। ये तीन प्रबंध कौन हैं, इस पहेली का भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। अवंतिसुंदरी-कथा की उपलब्धि से तो यह प्रश्न और भी विकट हो गया है। काव्यादर्श के विषय में प्रत्येक प्रकार से निश्चय है कि यह दण्डी की रचना है। दशकुमार-चरित के विषय में भी अभी तक निश्चय ही था, परंतु अब यत्र तत्र संदेह की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। श्री अगाशे* को शृङ्गार-रस के कुछ अश्लील वर्णनों तथा काव्यादर्श में वर्णित काव्यदोषों की दशकुमार में उपलब्धि से विश्वास है कि यह ग्रंथ दण्डी रचित नहीं है। परंतु यदि बाहरी दृष्टि से अश्लील तथा रतिवर्णन से ग्रंथकार के विषय में संदेह हो रहा है, तो कुमार का अष्टम सर्ग न तो कालिदास की रचना होगा और न नैषध का अष्टादश सर्ग श्रीहर्ष का। अवंतिसुंदरी-कथा दशकुमार के पूर्वार्द्ध में वर्णित कथा के अनुरूप है। अतः कथा को दण्डी की असली रचना मानने से दशकुमार के पूर्वार्द्ध में संदेह होने लगा है। यह संदेह आज का नहीं है। बहुत पहले विल्सन तथा चिपलूणकर शास्त्री† के भी शब्दों की निरुक्ति तथा कथा के पूर्वापर में किसी अंश में विरोध होने से यह संदेह क्या निश्चय होने लगा था कि उत्तर-पीठिका तो वास्तव में असली है, परंतु पूर्व पीठिका दण्डी की नहीं। के० वी० लक्ष्मणराव का कहना है‡ कि असली रचना कथा ही है, परंतु समयानंतर किसी कारण से वह शीघ्र ही लुप्त हो गई और उसी

---

* संस्कृत कविपंचक (मराठी) पृ०—२२६—७

† दण्डी चो अवन्तिसुन्दरी कथा, विविध ज्ञान विस्तार, वर्ष ५४ अंक ८ (१९२३ अगस्त)

‡ Indian Antiquary, 1915; Intro. to Daskumar Charit (B. S. S.).

कथा के आधार पर किसी ने पीछे से पूर्वपीठिका जोड़कर समग्र कथा का सिलसिला जारी रखा। इसी कारण कथा तथा पूर्वपीठिका में उल्लिखित अवन्तिसुन्दरी के आख्यान की अनेक घटनाओं में भिन्नता दिखाई देती है। जो हो, कथा को दण्डी की दूसरी रचना मानने में कोई सन्देह नहीं। तीसरे ग्रंथ के विषय में मतभेद है। डाक्टर पिशेल ने मृच्छकटिक को ही दण्डी की तीसरी रचना बताया था। पिटर्सन तथा जैकोबी ने 'छंदोविच्चित्ति' के ही तीसरी रचना होने का अनुमान किया था, परंतु 'सा विद्या नौर्विवक्षणाम्' में छंदोविच्चित्ति को दण्डी ने ही विद्या कहा है, ग्रंथ नहीं; अतएव यह ग्रंथ न होकर छंदशास्त्र का द्योतक है*। इसी प्रकार 'कला परिच्छेद' को भी ग्रंथ मानना उचित नहीं। सौभाग्यवश भोजराज इसके लिये हमारी सहायता करते हैं। उन्होंने अपनी 'शृंगार प्रकाशिका' † में दण्डी के 'द्विसंधान' नामक काव्य से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः।

धनंजय कवि का द्विसंधान काव्य प्रकाशित हुआ है, परंतु उसमें यह पद्य नहीं मिलता। यह कहना कठिन है कि 'द्विसंधान' का निश्चित विषय क्या है। सम्भवतः वह रामायण तथा महाभारत का सम्मिलित आख्यान होगा।

---

* Dr. Belvelkar-Notes on काव्यादर्श, Chapter 1st.

† इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की उपलब्धि अभी हाल में दक्षिण भारत में हुई है। यह मद्रास गवर्नमेंट के ग्रंथ संग्रहालय में सुरक्षित है। कहा जाता है कि अलंकार शास्त्र पर इससे बड़ा और दूसरा ग्रंथ नहीं है। इसमें लगभग ३० हजार श्लोक हैं और 'प्रकाश' नामक ३६ प्रकरण हैं। इसी में भोज ने 'शृंगारमेव रसनात् रसमामनामः' ('रत्नावली) में वर्णित शृंगार की प्रधानता के सिद्धांत का वर्णन यथेष्ट रूप में किया है।) इस महामूल्य ग्रंथ के प्रकाशन से अलंकार-शास्त्र की अनेक नई बातों का पता लगने की आशा है।

पूर्व कवि-प्रशंसा

अवन्तिसुंदरी कथा की छंदोबद्ध भूमिका संस्कृत साहित्य के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें ऐसे प्राचीन कवियों के नाम आए हैं जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता; और यदि मिलता भी है तो उससे कुछ अपूर्व साहित्यिक बातों का सन्निवेश इसमें पाया जाता है। प्रथमतः 'सुबंधु' नामक कवि के विषय में दण्डी का यह पद्य है:—

सुबंधुः किल निष्क्रांतो बिंदुसारस्य बंधनात्
तस्यैव हृदयं भित्वा वत्सराज.........॥

यद्यपि यह श्लोक खण्डित है तथापि इससे सुबंधु के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होती है। सुबंधु का संबंध बिंदुसार और वत्सराज के साथ किसी न किसी प्रकार से था। उपलब्ध वासवदत्ता के रचयिता सुबंधु इससे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि वासवदत्ता का समय कालिदासीय शकुंतला * तथा कामसूत्र के कर्त्ता वात्स्यायन† (ई० पाँचवीं सदी) के स्पष्ट उल्लेख से पंचम शताब्दी के आस पास माना जाता है। नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने नाट्यायित (एक नाटक के भीतर अनेक नाटक) के उदाहरण में सुबंधु रचित 'वासवदत्ता नाट्यधार' का उल्लेख किया है तथा कुछ अंश को उद्धृत भी किया है जिसमें वामन की काव्यालंकार-वृत्ति में उल्लिखित एक पद्यखण्ड ‡ में चंद्रगुप्त के पुत्र 'चंद्रप्रकाश' का नामोल्लेख पाया जाता है। वामन की वृत्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उसके प्रधान सचिव (मंत्री या मित्र) वसुबंधु (या सुबंधु) थे। इस पद्यांश पर विद्वानों

---

* विफलमेव पुष्यन्तस्य कृते प्रवाससः शायमनुवारव शकुंतला।

† कामसूत्रविन्यासी इव मल्लनाग घटित कान्तारसामोदः।

‡ सोऽयं सम्प्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।
आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबंधु साचिव्यो पक्षेपरत्या साभिप्रायत्वम्।

में बड़ा मतभेद है तथा अभी तक वह अनिश्चित है। स्मिथ ने एम० पेरी की सम्मति मानकर 'चंद्रप्रकाश' से समुद्रगुप्त का आशय निकाला है तथा वसुबंधु को चौथी सदी में मानकर उसी महान् गुप्त नरेश की सभा में उन्हें रखा है*। परंतु हरप्रसाद शास्त्री तथा आर० नरसिंहाचार्य ने जितनी हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा की है, उन सब में 'वसुबंधु' ही पाठ मिलता है। परंतु वासवदत्ता के लेखक केवल एक ही सुबंधु की जानकारी से उस पाठ में विद्वानों का विश्वास नहीं था; क्योंकि सुबंधु का समय पाँचवीं शताब्दी के बाद ही माना जाता है और उस समय में किसी चंद्रगुप्त-तनय के साथ उसका संबंध ठीक नहीं बैठता। परंतु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के कर्ता सुबंधु के इस ऐतिहासिक उल्लेख से ऊपर का पाठ अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि चंद्रगुप्त-तनय बिंदुसारही था जिसकी सभा में सुबंधु जैसे 'कृतधी' विद्वान् उपस्थित रहते थे †।

सुबंधु तथा वत्सराज के नाम दर्शक रूप में पाए जाते हैं। अतः इस श्लोक में वर्णित सुबंधु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के रचयिता प्रतीत होते हैं और चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र के समसामयिक होने के कारण इनका समय २८० ई० पू० के आसपास जान पड़ता है।

गुणाढ्य तथा चौर शास्त्र के आचार्य मूलदेव के उल्लेख के अनन्तर महाकवि शूद्रक के विषय में यह श्लोक है—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद्भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्रक न केवल महाविजयी राजा था, वरन् संसार को चकित करनेवाला महाकवि भी था। अभी तक

---

* Early History of India (Third Edition) p. 334.

† Ranganath Saraswati: Vasubandhu or Subandhu. Proceedings and Transactions of Second Oriental Conference. p. 203-13.

मृच्छकटिक प्रकरण के कर्ता रूप में शूद्रक का नाम प्रसिद्ध था; परन्तु अब 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण भी शूद्रक के नाम से उपलब्ध हुआ है। अवन्तिसुन्दरी कथा में भी शूद्रक की विजय-वार्ता वर्णित है। पूर्वोक्त पद्य के 'वाचा स्वचरितार्थया' से प्रतीत होता है कि शूद्रक ने कविता में अपने जीवन की ही घटनाओं का वर्णन किया है। तो क्या मृच्छकटिक का विजयी आर्यक शूद्रक ही है? और भी अनेक उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वान् शूद्रक को ही विक्रमीय सम्वत् का संस्थापक मानने लगे हैं*।

महाकवि भास के विषय में लिखा है—

सुविभक्त मुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।

इससे स्पष्ट है कि भास ने अनेक नाटकों की रचना की थी; परन्तु भास के नाम से प्रकाशित १३ नाटकों के रचयिता के विषय में इससे कुछ नई सामग्री नहीं मिलती।

सेतुबन्ध प्राकृत महाकाव्य के कर्ता प्रवरसेन के विषय में यह श्लोक पाया जाता है:—

सेतुरूपेण तिष्ठन्तो लोके सद्वस्तुदर्शिनः।
षट्पञ्चाशप्रमाणत्वं गताः नः कविपुंगवाः॥

जान पड़ता है कि सेतुबन्ध केवल एक कवि की रचना नहीं है, बल्कि अनेक कवियों ने इसके निर्माण में सहायता दी है। 'सेतुबन्ध' की हस्त लिखित प्रति में 'वाकाटकानां महाराजाधिराजस्य प्रवरसेनस्य वृतौ' लिखा हुआ है जिससे प्रवरसेन स्पष्टतः वाकाटकों का राजा प्रतीत होता है। प्रवरसेन द्वितीय ने कादम्ब नरेशों को हराकर विदर्भ तक अपनी शक्ति बढ़ाई थी। उनका समय ४२० ई० के आस पास माना जाता है।

---

* Mythe S. J. Vol. 13, No. 1.

कालिदास की मधुर कविता का वर्णन इसके अनन्तर किया गया है:—

लिप्ता-मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिर:
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।

किसी नारायण के विषय में नई सामाग्री का पता निम्नलिखित पद्य से लगता है:—

व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम् ।
तस्य काव्यत्रयंव्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम् ।

पद्य में नारायण के तीन प्रबन्धों का उल्लेख है । सम्भवत: 'वेणी-संहार' उनमें से एक होगा । परन्तु अन्य दो काव्यों का पता अभी तक नहीं लगा । ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के द्वारा वेणीसंहार के कई श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं । वामन ने भी अपने अलंकारसूत्र में न केवल इससे पद्य ही उद्धृत किया है, वरन् 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' में पदभंग के द्वारा 'वेत्स्यसि' शब्द की सद्य: प्रतीयमान व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि का भी यथेष्ट निराकरण किया है । इससे जान पड़ता है कि वामन के समय में ८ वीं सदी के अन्त में भट्टनारा-यण की कविता विशेष आदर के साथ देखी जाती थी तथा उनके प्रयुक्त पद प्रामाणिक माने जाते थे । अब कथा में उनका उल्लेख होने से उनका समय निश्चय पूर्वक निर्धारित किया जा सकता है । दण्डी के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नारायण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग है । वे धर्मकीर्ति और भट्टबाण के समकालीन जान पड़ते हैं ।

अनन्तर बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है—

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथ: ।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूर............ ॥

राजशेखर ने अपनी कवि-प्रशंसा में बाण और मयूर को हर्ष-वर्धन (६०६—६४८ ई०) का समकालीन बतलाया है । पद्मगुप्त के

नवसाहसांकचरित से इसकी पुष्टि होती है। बाणभट्ट की इस प्रशंसामयी सूचना से निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी का आविर्भाव-काल बाण के अनन्तर है। इसके द्वारा ऊपर सिद्ध किए गए दण्डी के समय की यथेष्ट पुष्टि होती है। यही क्यों, कथा में कादम्बरी की आख्यायिका भी पूर्ण रूप से वर्णित है। दण्डी ने कादम्बरी की प्रत्येक घटना का वैसा ही वर्णन किया है जैसा बाण* ने पूर्वार्द्ध कादम्बरी में। परन्तु कादम्बरी कथा के उत्तरार्द्ध की पूर्ति दण्डी ने अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति से की है। इस कारण बाण भट्ट के सुपुत्र पुलिन्दभट्ट द्वारा पूरित उत्तरार्द्ध से यह कथा बिल्कुल ही भिन्न है।

कादम्बरी-कथा की समानता से भी दण्डी का काल बाण के अनन्तर पूर्ण रूप से निश्चित होता है। इसमें सन्देह करने का लेश मात्र भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थ का विषय

ऊपर लिखा जा चुका है कि अवन्तिसुन्दरी कथा का वही विषय है जिसका वर्णन दशकुमार चरित की पूर्वपीठिका में किया गया है। कथासार इसी कथा का छन्दोबद्ध सारांश है। कथा में वररुची, शूद्रक, कादम्बरी आदि अनेक उपकथाएँ भी निबद्ध हैं जिनसे यह ग्रन्थ बृहत्कथा के ढङ्ग पर रचा गया प्रतीत होता है। वादि घंघाल (जंघाल) ने काव्यादर्श की टीका में अवन्तिसुन्दरी कथा नामक आख्यायिका का उल्लेख किया है और वल्लभदेव की सुभाषितावलि से विभिन्न एक अन्य सुभाषितावलि में दण्डी के नाम से व्यास के विषय में वही पद्य पाया जाता है जो इस कथा के प्रथम परिच्छेद में दिया गया है। इस से भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अच्छी तरह से अनुमित होती है।

* श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः।

दण्डी की रचना-शैली बड़ी ओजस्विनी है। उसमें बाणभट्ट के समान ही आनन्द आता है। रचना का ढंग भी उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। परन्तु जहाँ तहाँ अर्थ की कठिनता जान पड़ती है। तथापि इस गद्य काव्य की सुभग रचना एक महाकवि के सर्वथा उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। अभी तो इस ग्रन्थ के सात ही परिच्छेद प्राप्त हुए हैं। शेष भाग का लोप संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास दोनों के लिये अशेष हानिकर हुआ है। निम्नलिखित अंश को ग्रन्थ से उद्धृत कर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है:—

......तरङ्गमयी भ्रूपताकयोः, इन्दीवरमयी नयनयुगे, रक्तोत्पलमयी दन्तच्छदे, कुमुदमयी ईषत्स्मितेषु,...अमृतमयी वचसि, प्रसादमयी मनसि, चक्रवाकमयी पयोधरयोः, आवर्तमयी नाभिरन्ध्रे, पुलिनमयी नितम्बतटेषु, पुष्पकरमयी पादतलयोः, अमर...पभोगायतीर्णा मन्दाकिनी लीला कर कान्तिराग प्राचुर्याणि, पञ्चैव महभूतस्थाने निधाय निर्मितेव प्रजापतिना, प्रावृडिव घनगभीरस्तननाभि रमणी, शरदिव सरसां कान्तिमुद्वहन्तीं, हेमन्तवृत्तिरिव प्रालम्बिनी हारमालिनी, शिशिरश्रीरिव नवनवमालिका वसन्तवेलेव चारुभुजवासभूषिततनुलता सर्वर्तुसवृत्तितयैवनन्दनस्यभावा..................देवी वसुमती नामी।

सोमेश्वरदेव और कीर्त्तिकौमुदी के संबंध में स्फुट टिप्पणियाँ

[लेखक—पंडित दत्तात्रेय बालकृष्ण डिस्कलकर एम. ए. राजकोट ।]

(१)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ४, अंक १ में पंडित शिवदत्त शर्मा जी ने 'सोमेश्वरदेव और कीर्त्ति-कौमुदी' नामक लेख प्रकाशित किया है। उसमें सोमेश्वरदेव—रचित ग्रंथों की नामावली में 'सुरथोत्सव' की प्रस्तावना के अनुसार 'काव्यादर्श' और 'काव्यप्रकाश टीका' के नाम भी 'कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम्' (Catalogus Catalogorum) के आधार पर दिए गए हैं; परंतु उसके साथ ही उक्त पुस्तकों के सोमेश्वरदेव-रचित होने में शंका प्रकट की है जो यथार्थ है। ऐसा पाया जाता है कि उक्त पुस्तकों का कर्ता और कीर्त्ति-कौमुदी—कर्ता गुर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वरदेव दो भिन्न भिन्न पुरुष थे*; क्योंकि गुजरात के सोमेश्वर देव के पिता का नाम कुमार था और वह वसिष्ठगोत्री नागर ब्राह्मण था, ऐसा उसके रचे हुए 'सुरथोत्सव' काव्य के पंद्रहवें सर्ग से पाया जाता है। टीकाकार सोमेश्वर कान्यकुब्ज (कन्नौज) का निवासी था। उसके बाप का नाम देवक था और वह भारद्वाज-गोत्री ब्राह्मण था, ऐसा उक्त टीका के अंत में लिखे हुए इस श्लोक से पाया जाता है:—

भारद्वाजकुलोत्तंसभट्टदेवकसूनुना ।
सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा ॥

इन दोनों कवियों के नामों में भी थोड़ा सा अंतर है जो पाठकों

---

* वल्लभजी हरिदत्त आचार्य कृत 'कीर्त्ति-कौमुदी' के गुजराती भाषांतर की प्रस्तावना, पृ० ४४ ।

के ध्यान में आया होगा। दूसरी बात यह है कि 'काव्यादर्श' और 'काव्य प्रकाश टीका' ये दो भिन्न ग्रंथ नहीं, किंतु दोनों नाम एक ही ग्रंथ के हैं जैसा कि पंडित जी ने माना है। 'काव्य प्रकाश' की 'बाल बोधिनी' टीका में उक्त टीकाकार के पूर्व की ४६ टीकाओं के नाम दिए हैं, जिनमें ३१ वीं संख्या में इस टीका का परिचय नीचे लिखे अनुसार दिया है:—

काव्यादर्शाभिधा टीका कृता सोमेश्वरेण च।

सोमेश्वर नामक एक तीसरा कवि हो गया है, जो गर्गगोत्री ब्राह्मण, पद्मनाभ का पुत्र, और कृष्णराज नाम के किसी राजा का मंत्री था, ऐसा पश्चिमी खानदेश के बलसाणा गाँव में मिले हुए शक संवत् ११०६ (वि० सं० १२४१) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है *। परंतु उसने कोई ग्रंथ लिखा या नहीं, इस विषय में कुछ भी जाना नहीं गया।

(२)

पंडित जी ने सोमेश्वर रचित शिलालेखों † की जो सूची दी है, उसमें उक्त कवि की बनाई हुई डभोई की वि० सं० १३११ की प्रशस्ति ‡ का नाम छूट गया है। प्रो० काथवटे ने अपना 'कीर्त्तिकौमुदी' की अँग्रेजी भूमिका (पृ० ९) में उसका उल्लेख किया है। सोमेश्वरदेव का समय निर्णय करने में वह उपयोगी है, क्योंकि सोमेश्वर रचित प्रशस्तियों में वह सब से पिछली है। मेरा अनुमान है कि सोमेश्वरदेव का समय अनुमान से वि० सं० १२५० से १३१५ तक होगा।

(३)

अनेक ग्रंथों और शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि वस्तुपाल ने आबू, गिरनार और शत्रुंजय तीर्थों की अनेक बार यात्रा की थी और वहाँ

---

* आर्कियालॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्किल की सन् १९१८–१९ की रिपोर्ट, पृ० ४५.

† बंबई गजेटियर, जि० १, भा० १, पृ० २०२।

‡ एपिग्राफिया इंडिका, जि० २, पृ० २५–३२।

मंदिर बनवाकर उनमें शिलालेख लगवाए थे। वस्तुपाल का मित्र और उस समय का राजकवि सोमेश्वरदेव था, जिसके रचे हुए दो शिलालेख गिरनार से और एक आबू से मिल चुका है। अनुमान होता है कि सोमेश्वर देव रचित कोई प्रशस्ति वस्तुपाल ने शत्रुंजय पर भी लगाई होगी, परंतु दुर्भाग्य से उसका कोई पता नहीं लगता।

(४)

पंडितजी ने सोमेश्वरदेव के जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है (पृ० १६) कि 'इस (वीसल) के राजा होने पर भी सोमेश्वर का प्रभाव अन्यून रहा। इस राजा ने नागड़ नाम के एक ब्राह्मण को प्रधान बना दिया और वस्तुपाल के अधिकार न्यून कर दिए। इतना ही नही किंतु एक मुँहलगे समराक नाम के प्रतिहार के कहने पर इन दोनों भाइयों से वह बलात्कार धन माँगने लगा......इत्यादि'। इस घटना में सत्यता मालूम नहीं देती, क्योंकि कुछ ग्रंथों और पट्टावलियों * से पाया जाता है कि वस्तुपाल का देहांत वि० सं० १२९८ में हो गया, जैसा कि पंडित जी ने माना है; और वीसलदेव वि० सं० १३०० में गद्दी पर बैठा †। यदि यह बात ठीक हो तो प्रस्तुत घटना कैसे हो सकती है ?

---

* श्रीयुत रामकृष्ण गोपाल भंडारकर कृत 'संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों के शोध की रिपोर्ट, सन् १८८३—८४ ई. की', पृ. १४।

† श्रीयुत डिस्कलकर का यह कथन कि 'बीसलदेव वि. सं. १३०० में गद्दी पर बैठा' मानने योग्य नहीं है। वीरधवल का देहांत वि. सं. १२९५ में हुआ (बंबई गजेटियर, जि. १, भाग १, पृ. २०३; संवत् १२९५ वर्षे भाद्रपदि शुदि ११ रवौ स्तम्भतीर्थे महामण्डलेश्वराणक श्रीविसलदेव राज्ये.......................। पाटण के संघ विपाड़ा के भंडार में रखी हुई 'योगशास्त्र' की ताड़पत्र पर लिखी हुई पुस्तक के अंत में)। उससे पूर्व ही उसके ज्येष्ठ पुत्र प्रतापमल्ल का शरीरांत हो चुका था। उसके देहांत के समय उसके दो पुत्र वीरम और वीसलदेव (वीसल, विश्वल, विश्वलदेव, विश्वमल्ल) विद्यमान थे। अपने पिता के मरते ही वीरम ने अपने को अपने पिता की धोलका की गद्दी का उत्तराधिकारी

इसके विरुद्ध 'प्रबंध चिंतामणि' आदि में लिखा मिलता है कि वस्तुपाल की सहायता से ही वीसलदेव गद्दी पर बैठा था। यदि ऐसा हुआ हो तो वीसलदेव सहसा वस्तुपाल को पदच्युत कर कृतघ्न न हुआ होगा *।

मान लिया, परंतु उसके उद्धत होने के कारण मंत्री वस्तुपाल ने वीसलदेव का पक्ष लेकर उसी को धौलके की जागीर का स्वामी बनाया। वीरम कुछ इलाका दबाकर एक दो वर्ष गुजरात में ही रहा (संवत् १२९६ वर्षे आसोय सुदि ३ गुरौ अद्येह राजावली समलंकृत महाराजाधिराज श्रीमद्भीमदेवकल्याण विजय राज्ये प्रवर्तमाने महामंडलेश्वर राणक श्री-वीरमदेव राजाधानौ विद्युत्पुरस्थितेन श्री·········। ताड़पत्र पर लिखी हुई मलयगिरि कृत 'संग्रहणी टीका—जयसलमेर के जैन भंडारों के ग्रंथों की सूची, पृ. ३५)। फिर वहाँ से भागकर अपने श्वसुर जालौर (जोधपुर राज्य में) के चौहान राजा उदयसिंह के यहाँ जा रहा और वस्तुपाल के उद्योग से वह वहीं मारा गया। ऐसी दशा में वीसलदेव का वस्तुपाल की विद्यमानता में ही धौलका का स्वामी बनना निश्चित है। वि. सं० १३०० में या उसके आस-पास तो वीसलदेव ने गुजरात के राजा त्रिभुवनपाल का राज्य छीना था। सं०

* राजपूतों के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास का अध्ययन करनेवालों को प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक के कई ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं कि कभी कभी राजपूत राजा अपने पर बड़ा उपकार करनेवालों का अपकार कर बैठने में तनिक भी नहीं हिचकते थे। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अपने बहनोई कृष्णदेव (कान्हड़) की सहायता से ही राज्य पाया था, परंतु पीछे से उसने कृष्णदेव की आँखें निकलवा दी थीं। जोधपुर के महाराज अजीतसिंह के प्राण बचानेवाला तथा औरंगजेब का छीना हुआ उसका राज्य वापस लेने के लिये लड़नेवालों में मुख्य दुर्गादास राठौड़ ही था। परंतु राज्य पाने के पीछे अजीतसिंह ने उस परम उपकारी वीर पुरुष को अपने राज्य से भी निकाल दिया जिससे वह उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) की शरण में आ रहा। महाराणा ने उसे बड़े सम्मान के साथ अपने यहाँ रखा और रामपुरा जिले का शासक नियत किया, जहाँ उसका देहांत हुआ और चिप्रा नदी के तट पर उसका अग्निसंस्कार हुआ। ऐसी दशा में संभव है कि वीसलदेव भी अपने पिता की जागीर का स्वामी होने के पश्चात् अन्य लोगों की बातों में आकर मंत्री वस्तुपाल का अविश्वास करने और नागड़ के प्रति सद्भाव दिखलाने लगा हो, जैसा कि 'वस्तुपाल चरित' से अनुमान किया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि वस्तुपाल और उसके भाई तेजपाल के पीछे उस (वीसलदेव)

मुझे तो वस्तुपाल के संबंध की ये दोनों दंत-कथाएँ निर्मूल प्रतीत होती हैं*। यदि उनमें कुछ सत्यता हो, तो यही मान सकते हैं कि यहाँ नामों में कुछ गड़बड़ है। वस्तुपाल के स्थान में उसके छोटे भाई तेज-पाल का नाम होना चाहिए। तेजपाल की मृत्यु वि. सं. १३०८ में होना पट्टावलियों में लिखा मिलता है। शायद बीसलदेव ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया हो।

ने नागड़ को ही अपना मंत्री बनाया था (संवत् १३१० वर्षे मार्ग० शुदि पूर्णिमायां अद्येह महाराजाधिराज विश्वलदेवकल्याण विजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविमहामात्य श्रीनागड़ प्रभृति पंचकुल प्रतिपत्तौ एवं काले प्रवर्तमाने प्रकरणपुस्तिका साधुचन्दनेन लेखितेति जयसलमेर के जैन पुस्तक-भंडारों की सूचि, पृ. ३७—३८) सं०

* ऊपर लिखी हुई दोनों दंतकथाएँ निर्मूल नहीं हैं। उनमें सत्यता का कुछ अंश अवश्य है, जैसा कि जैन ग्रंथों से पाया जाता है। सं०

कबीर

जीवन-खण्ड

[लेखक पं० शिवमङ्गल पाण्डेय, बी० ए०, विशारद]

कबीर की जीवन-घटना साधारण नहीं है। वह पद पद पर अलौकिकता से पूर्ण है। आरम्भ से अन्त तक आश्चर्यमय है। जितनी ही उनकी उत्पत्ति संदिग्ध और अज्ञात है, उतना ही उनका मरण और उनकी जीवन-व्यवस्था भी। सत्यतः उनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है, जिसमें दैविकता और पारलौकिकता के कुछ अंश न पाए जाते हों। 'भक्तमाल' में उनकी उत्पत्ति का ठीक इसी तरह उल्लेख है।

जब रामानन्द स्वामी पवित्र नगरी काशी में रहते थे, उस समय एक अकिञ्चन ब्राह्मण उनकी सेवा करता था और सदा उनकी सुख-सामग्रियों के सञ्चित करने में रत रहता था। दास स्वामी जी पर इतनी श्रद्धा-भक्ति रखता था कि वह उनको अपना गुरु मानता था। स्वामी जी उसके लिये देव-तुल्य थे। उस ब्राह्मण के एक विधवा कन्या थी। वही उसकी इकलौती बेटी थी। उस पर पिता का अगाध वात्सल्य-प्रेम था। ऐसी कन्या ऐसे पिता की योग्य सन्तति थी। वह सर्वदा धर्मपरायणा थी। उसकी प्रवृत्ति केवल पूजा और धार्मिक कार्यों में रहती थी। वह ऋषि के दर्शनार्थ बहुत उत्कण्ठित रहा करती थी। एक दिन पिता से उसने इसके लिये निवेदन किया। ब्राह्मण भी इस पर सहमत हो गया और उसको उस पवित्रात्मा के चरण-कमलों के समीप ले गया। कन्या का चरित्र धर्मपरायण था ही। उसने बड़े नम्र भाव से उस शुद्ध-बुद्ध पुरुष को सिर नवाया। स्वामी जी उसके ऐसे बर्ताव से बहुत प्रसन्न हुए, और कह पड़े—'जा तेरे पुत्र हो'। ऐसी

दशा में सिद्ध फ़कीर ऐसा ही आशीर्वाद दिया करते हैं। स्वामी जी को क्या पता था कि कन्या किशोरावस्था से ही विधवा है। पिता समीप ही खड़ा था। उस पर एकाएक वज्रपात सा हुआ। वह बहुत घबराया और ऋषि से बोला—"पूज्यपाद! आपने क्या कहा! मेरी कन्या विधवा है। उसको पुत्र कैसे हो सकता है?" ऋषि कुछ भी क्षुब्ध नहीं हुए और धैर्यपूर्वक उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता। उसको पुत्र अवश्य होगा। परंतु गर्भधारण का चिह्न उस पर लक्षित नहीं होगा, और न कोई अपमानपूर्ण किम्वदन्ती जनता में फैलेगी"। ब्राह्मण भौचक्का हो गया। उसके मुँह से बात तक न निकलती थी। कन्या को धीरे से साथ लेकर घर चला आया। उसने यह बात किसी से नहीं कही और भविष्य की प्रतीक्षा करने लगा। दस महीने बीत गए, और बिना किसी गर्भधारण के चिह्न के, कन्या को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कन्या इस बात पर बहुत दुःखित हुई कि इसका समाचार किसी तरह छिपा नहीं रह सकता। वह किं कर्तव्यविमूढ़ा सी हो गई। घबराहट में उसने पैदा होते ही पुत्र को गोद में उठा लिया और एक नदी पार करके उस पार उगे हुए झाऊ और नरकल के नीचे कलेजे पर पत्थर रखकर पुत्र को फेंक दिया। उसने सोचा कि शायद किसी बटोही की नजर इस पर पड़ जाय और दया के वशीभूत होकर इसके प्राण की रक्षा हो जाय। तदनन्तर ऐसा हुआ कि अली नाम का एक जोलाहा उसी रास्ते से गुजर रहा था। बालक को ऐसी असहाय दशा में देखकर जोलाहे को उस पर दया आ गई। उसने पुत्र को उठा लिया और घर ले आया। जोलाहा बालक को पुत्रवत् रखने लगा। बालक पर उसका प्रेम इस कारण से अधिक था कि वह सन्तान-हीन था। उसी बालक को वह स्वपुत्र मानने लगा। काल के गाल से अलौकिक रीति से बचा हुआ यही बालक आज के इस छोटे से लेख का पवित्र और उज्वल नायक है।

बालक धीरे धीरे बड़ा हुआ। जब उसके नामकरण का समय आया, तब धर्मपिता ने उसका नाम कबीर रक्खा। अली का जीवन-निर्वाह कपड़ा बुनने से होता था। पुत्र को भी उसने बुनने का काम सिखाया। होते होते कबीर बुनने के काम में ऐसे पारंगत हो गए कि उनकी कमाई पिता की कमाई से कहीं अधिक होने लगी। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अली बहुत वृद्ध हो गया था और एक प्राणघातक रोग से ग्रस्त था। उससे काम अच्छी तरह होता न था। यद्यपि कबीर बुनाई के काम में सिद्धहस्त हो गए, तथापि उनके जीवन का वही एक मात्र उद्देश्य न था। ताना तनने के साथ ही साथ वे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की प्रशंसा में भिन्न भिन्न प्रकार के गाने गाया करते थे। नवयुवक कबीर बड़े परिश्रम से कार्य करते और अपने माता-पिता का जीवन-निर्वाह कराने में सदा संलग्न रहते थे। इस प्रकार वे अपने कुटुम्ब का भली भाँति पालन-पोषण करने में समर्थ हुए।

एक दिन कबीर पास के बाज़ार को जा रहते थे कि इतने में आकाशवाणी हुई—"हे कबीर! रामानन्द स्वामी से मंत्र लो और माला पहन और तिलक लगाकर वैष्णव हो जाओ"। कबीर ने इन शब्दों को नितान्त ऐश्वरीय जाना और तुरन्त ही ऋषि के आश्रम की ओर चल पड़े। रास्ते में उनको मालूम हुआ कि रामानन्द स्वामी ब्राह्मण को छोड़कर इतर किसी जातिवाले को मंत्र नहीं देते। कबीर तो मुसलमान थे। उनसे मंत्र पाना तो स्वप्न में भी नहीं देखा जा सकता था। यह समझकर कबीर बहुत ही दुःखी होकर धीरे धीरे घर की ओर लौटे। परन्तु कबीर ऐसे न थे कि जिन पर प्रतिकूल घटना का भयपूर्ण प्रभाव पड़े। वे अपने विचार के पक्के थे। उसी समय से कोई रास्ता निकालने के सोच-विचार में लग गए। अन्त में उन्होंने एक ऐसा ढंग सोच निकाला जिससे वे अपना अभीष्ट सफल कर सकें।

रामानन्द स्वामी बड़े प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त के पहले ही सोकर उठते थे और उसी समय गंगा-स्नान के लिये जाते थे। एक दिन कबीर अपने झोंपड़े से उस समय उठे, जब प्रकाश अंधकार पर विजय-प्राप्ति के हेतु घोर युद्ध में प्रवृत्त होता है। कबीर घाट पर पहुँचकर सबसे अंतिम सीढ़ी पर लेट गए। संयोगवश ऐसा हुआ कि जब रामानन्द स्वामी नीचे उतर रहे थे, तब उनका खड़ाऊँ कबीर के सिर से टकर खा गया। स्वामी बिना कुछ सोचे समझे बोल उठे—"राम कह, राम कह"। कबीर, जिन्होंने मर जाने का बहाना किया था, तत्काल वहाँ से उठकर घर आए। उसी समय से माला पहन और तिलक लगाकर कबीर वैष्णव हो गए। ऐसे वेष में वे अपनी झोंपड़ी के दरवाजे पर बैठे बैठे "राम" "राम" का मंत्र जपा करते थे। कबीर को ऐसे अजनबी ढंग में पाकर उनकी माँ ने कुछ हँसी में कहा—"कबीर! किसने तुमको ऐसा पागल बना दिया?" माता का यह कथन कुछ अंशों में ठीक था। धार्मिक दृष्टि से कोई मुसलमान वैष्णव तभी कहा जा सकता है, जब उसके मस्तिष्क में कुछ विकृति आ गई हो। हिन्दू-शास्त्रानुसार भी कोई मुसलमान हिन्दू नहीं हो सकता। कबीर ने माँ को उत्तर दिया—"नहीं माँ! मैं विक्षिप्त नहीं हूँ, बल्कि रामानंद स्वामी का शिष्य हो गया हूँ।" सभी जानते थे कि स्वामी जी मुसलमान का मुख देखना तक नहीं चाहते। उन्होंने कबीर को चेला कैसे बनाया? गाँववालों के कानों में यह खबर पड़ी कि ऋषि तक पहुँच गई। ऋषि को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने तत्काल ही कबीर को बुला भेजा। कबीर के आते ही वे परदे के पीछे हो गए, क्योंकि वे किसी मुसलमान के समक्ष न बोलते थे। आड़ से ही उन्होंने कबीर से पूछा—"तू मेरा चेला कैसे हुआ?" कबीर ने कहा—"स्वामी जी! क्या 'राम' नाम के अतिरिक्त अन्य भी कोई मंत्र है?" स्वामी जी के 'नहीं' कहने पर कबीर ने फिर पूछा—"क्या 'राम कह,

राम कह' को छोड़कर दूसरा भी कोई मंत्र देने का ढंग है? और क्या स्वामी जी! आपने गंगा के तट पर, जब आपका खड़ाऊँ मेरे सिर से टकराया था, मुझ को यही मंत्र नहीं दिया था?" कबीर के इस यथोचित उत्तर ने रामानन्द स्वामी के अन्तःकरण से मुसलमानों के प्रति उनके वैमनस्य-भाव को निकाल दिया। वे परदे के बाहर निकल आए और आनन्दमय तथा आश्चर्यपूर्ण भाव से कबीर को गले लगा लिया। कबीर के म्लेच्छ होते हुए भी स्वामी जी ने उन्हें अपनी पंगति में ले लिया।

जब कबीर ने देखा कि आकाशवाणी पूर्णतया चरितार्थ हुई, तब उनका उत्साह और भी बढ़ा और अब वे बराबर ईश्वर-प्राप्ति के प्रयत्न में रहने लगे। एक दिन हरि ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। जब कि कबीर बाज़ार में एक थान लेकर बेचने गए, एक वैष्णव ने आकर उनसे कपड़ा माँगा। वैष्णव हरि के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। कबीर वैष्णवों के भक्त थे। वे इनकार न कर सके। कपड़े का आधा भाग वैष्णव को दे डाला। वैष्णव ने कहा—"आधे से मेरा काम नहीं चलेगा"। इस पर उन्होंने अवशिष्ट आधा भाग भी दान कर दिया। कबीर के माँ-बाप धनी न थे। कपड़ बेचने से ही उनकी रोज़ी चलती थी। उस दिन बिना मूल्य के कपड़ा वैष्णव को दे डाला, इसलिये कबीर घर में कुछ नहीं दे सकते थे। उन्होंने यह भी सोचा कि घर पर कुछ झिड़कियाँ भी मिलेंगी। इसलिये उस दिन शाम को घर जाना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। वे बाजार ही में एक स्थान पर सो रहे और यह सोचा कि माँ-बाप किसी तरह से गुज़र कर ही लेंगे।

हरि को कबीर के भूखे कुटुम्ब पर दया आई और वे अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ लेकर कबीर के घर गए। माता भौचक्की रह गई और बोली—"हे कबीर। तुमने आज किस को लूटा है? अगर न्यायाधीश को इसका पता चल गया, तो हथकड़ी बेड़ी डालकर बन्दीगृह में रख

दिए जाओगे"। तदनन्तर हरि ने, जिसने कि अभी कबीर का रूप धारण किया था, फिर वैष्णव का बाना बनाया, और तुरन्त बाज़ार में कबीर के पास आए और उनसे घर जाने को कहा। कबीर घर लौट आए और सब हाल सुनकर बहुत चकित हुए। कबीर को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह सब करतूत हरि की ही है! यह समझकर कि ईश्वर मुझ पर इतना दयालु है, कबीर ने सब सांसारिक विषयों का त्याग कर दिया और केवल ईश्वर-ज्ञान की ओर झुके। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति वैष्णवों में बाँट दी और एक निस्पृह वैरागी की तरह रहने लगे। ब्राह्मणों को कबीर का दान बहुत बुरा लगा। उन्होंने कबीर के प्रतिकूल कुछ कपट-प्रबंध रचने का विचार किया। क्रोध में उन्होंने कबीर से कहा—"ऐ जोलाहे! तुमने सब कुछ वैष्णवों को लुटा दिया और हम लोगों को कुछ भी न दिया। क्या यह न्याय-संगत है? हम लोग तुम्हारी दानशीलता से बाहर क्यों रहें?" परन्तु कबीर विवश थे। उन्होंने सब कुछ समाप्त कर दिया था। उन्होंने अन्त में ब्राह्मणों से कहा—"कुछ देर ठहरिए, मुझे एक जगह से लौट आने दीजिए"। इतना कह कबीर बाज़ार चले गए और उसी स्थान पर लेट गए। इसी बीच में हरि ने कबीर का बाना बनाकर, बैलों पर रुपए लाद कर और उन ब्राह्मणों के पास आकर उनको भरपूर धन दिया। फिर उसी तरह कबीर के पास जाकर उनको घर लौट जाने को कहा। तद्नुसार कबीर घर आकर क्या देखते हैं कि सब ब्राह्मण दान से तृप्त हैं और उनका घर धन से भरा है। कबीर ने सब धन उसी दम दान कर दिया। लोगों को आशातीत सम्पत्ति प्राप्त हुई। अब क्या था! कबीर का नाम कर्ण की तरह प्रसिद्ध हुआ। प्रति दिन भिखमंगों की भीड़ उनके दरवाज़े पर लगी रहती। उनका सब समय दान देने ही में लग जाता। इससे उनके भजन भाव में बड़ी बाधा आ उपस्थित हुई। उन्होंने इस जंजाल से छुटकारा पाने की कोशिश में

कुछ रख नहीं छोड़ा। अन्त में एक ऐसा ढंग ढूँढ़ निकाला, जिससे कि वे कार्य-सिद्धि में सफल हुए। यद्यपि ऐसा ढंग एक त्यागी वैष्णव के चरित्र के नितांत अयोग्य था, तथापि और कुछ दूसरी बात उनको उस समय न सूझी।

एक दिन प्रातःकाल कबीर ने एक वेश्या को बुलाया और अपने साथ उसको शहर में घूमने को कहा। रास्ते में उसको बहुत बड़े बड़े इनाम देते जाते थे। कबीर ने एक हाथ उसके कंधे पर रख लिया था और दूसरे हाथ से कमंडलु लिए हुए थे। इसी वेष में जनपथ और राजपथ पर वे घूम रहे थे। यह अत्यंत कलुषित दृश्य सज्जनों की नजर में इतना चुभता था कि वे कबीर के घर से सदा के लिये नौ दो ग्यारह हुए। उनके लिये यह पाप-पूर्ण धृष्टता की पराकाष्ठा थी। दुष्ट लोग इस पर प्रसन्न हुए कि कबीर भी, जिनकी प्रख्याति दाक्षिण्य और धार्मिकता में बहुत बढ़ी चढ़ी थी, अब हमीं लोगों में से एक हो गए। इसी बाने से कबीर राजा के सम्मुख जा पहुँचे। राजा ने, जैसी कि आशा थी, इससे बहुत बुरा माना। वह असभ्य और अशिष्ट व्यवहार देखकर कबीर ने कमंडलु से कुछ जल पृथ्वी पर छिड़का। राजा ने समझा, शायद बाबा मेरे ऊपर नाराज हो गए हों। उन्होंने मर्म-भेदी स्वर में कहा—"क्या आपने क्रोध में मुझे शाप दिया है ?" बाबाजी ने कहा—"नहीं महाराज ! जगन्नाथ जी का पण्डा गर्म गर्म प्रसाद थाली में लिए जा रहा था। कुछ प्रसाद उसके पैर पर गिर पड़ा, जिससे कि वह जल गया। उसी का कष्ट शांत करने के लिये मैंने जल फेंका है"। राजा को उस समय इस बात पर विश्वास नहीं हुआ; परंतु पुरी से जब समाचार मँगाया गया, तब कबीर का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा बहुत लज्जित और भयभीत होकर क्षमा-प्रार्थना के लिये कबीर के पास आया। अब कबीर का नाम राजा के यहाँ भी प्रख्यात हो गया और उनके भाग्य में महान् परिवर्तन हो चला।

तत्पश्चात् राजा साहब का देहांत हो गया। उनके लड़के सिकंदर ने राजगद्दी पाई। पास के ब्राह्मणों ने, जो जोलाहे कबीर के वैष्णव हो जाने से बुरा मानते थे, उनकी माँ को बहकाकर महाराजाधिराज सिकंदर के पास भेज दिया। दिन ही को माँ के हाथ में एक दीपक दे दिया और सिकंदर से उससे कहलवाया—"आप के राज्य में दिन ही रात हो गया है; नहीं तो एक मुसलमान हिन्दू कैसे हो सकता था ?" राजा ने शिकायत सुन ली और कबीर को दरबार में दण्ड देने के लिये बुलाया। उनके आते ही एक दरबारी ने कहा—"राजा का आधिपत्य स्वीकृत करके उनका अभिनंदन करो"। अपने विश्वास में दृढ़ कबीर ने निडर होकर कहा—"मैंने केवल राम को ही जाना है। मैं उसी का अधिकार मानने को तैयार हूँ, दूसरे किसी का नहीं"। इस निर्भीक और अनम्र उत्तर से सिकंदर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने फौरन ही हुक्म दिया कि इसके हाथ पैर बाँधकर गंगा में फेंक दो। राजकीय शासन ज्यों का त्यों पूरा किया गया। परंतु कुछ काल के बाद जब सब लोग यह सोच रहे थे कि कबीर अब परलोक को सिधारेगा, वे हथकड़ी बेड़ी से मुक्त होकर पानी के बाहर आ खड़े हुए। यह सत्यतः एक आश्चर्यमयी घटना थी; परंतु राजा का क्रोध तनिक भी शांत नहीं हुआ। उसने फिर कबीर को प्रज्ज्वलित अग्नि में फेंक देने का हुक्म दिया। वैसा किए जाने पर भी कबीर का एक बाल भी बाँका न हुआ—उनका शरीर बिल्कुल सुरक्षित बना रहा। इस पर भी राजा के सिर से भूत नहीं उतरा। उसने फिर भी कबीर को हाथी के नीचे कुचलवाने का हुक्म दिया। यह प्रयोग भी विफल रहा; क्योंकि हाथी कबीर को दूर ही से देखकर बेतहाशा भागा। इसका कारण जानने ने लिये राजा ने स्वयं हाथी पर सवार होकर कबीर को कुचलवाना चाहा। परंतु राजा और हाथी दोनों को कबीर व्याघ्र-वत् लक्षित होते थे। हाथी कबीर को बाघ समझकर चिंघाड़ मारकर भाग निकला। अब जाकर राजा की

आँखें खुलीं। उसके अंतःकरण पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने बहुत विनयपूर्वक कबीर के पास आकर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और क्षमा की प्रार्थना करता हुआ हाथ जोड़कर बोला—"कबीर साहब! कृपाकर मुझे क्षमा कीजिए। मुझे दैविक क्रोध से बचाइए। मैं आप को धन दौलत, जितना आप चाहें, देने को तैयार हूँ"। संसार-त्यागी कबीर ने उत्तर दिया—"मैं ऐसी सम्पत्ति को क्या करूँ, जिसके पाने से बाप बेटे में और भाई भाई में वैर-भाव पैदा होता है? पर इतना मैं कहे देता हूँ कि दयालु राम तुम्हारा अपराध क्षमा करेंगे।"

जब उपर्युक्त ब्राह्मणों ने देखा कि हमारे सब उपाय मिट्टी में मिल गए, तो उन्होंने फिर और अधिक प्रभावशाली उपाय निकालना चाहा। वे जानते थे कि हिंदू और मुसलमान दोनों ने कबीर को छोड़ दिया है। केवल वैष्णवों में उनकी प्रतिष्ठा और सर्वप्रियता है। यदि केवल वैष्णवों से और उनसे अनबन हो जाय, तो हमारा मतलब निकल आवे। तदनुसार उन लोगों में से चार मनुष्यों ने वैष्णवों के रूप बनाए। उन्होंने कबीर के नाम का एक झूठा पत्र बनाया और उसे लेकर तमाम मुल्क के वैष्णवों को कबीर के यहाँ एक नियत दिन को भोज के लिये निमंत्रित किया। उस दिन हजारों वैष्णव कबीर के दरवाजे पर आ उपस्थित हुए। कबीर ने समझ लिया कि हमारे साथ कूट-व्यवहार किया गया है। वे कुछ घबराए भी, कि साधारण जन-समाज में तो मेरा अपमान था ही, अब वैष्णवों से भी मुझसे बिगड़ेगी। अंत में उन्होंने ईश्वरीय शक्ति ही का आश्रय लेना सब से अच्छा समझा। प्रार्थना करते ही हरि ने कबीर को अनेक प्रकार की सामग्रियों से भरपूर कर दिया। अतिथि-समाज खूब खा पीकर निमंत्रक से बहुत प्रसन्न हुआ और हृदय से आशीर्वाद देता हुआ अपने घर को चला गया।

परंतु कबीर की विघ्न-बाधाओं और कठिन परीक्षाओं का यहीं

अंत नहीं है। शायद उपर्युक्त ब्राह्मणों के ही प्रोत्साहन से एक वेश्या ने फिर भी कबीर को अपने लावण्यमय मनोहारी रूप के फंदे में फँसाना चाहा। परंतु यहाँ भी धार्मिकता की अधर्म पर और सदाचार की व्यभिचार पर विजय हुई। वेश्या के हृदयग्राही और मनोमुग्धकारी रूप को देखकर कबीर ने भक्ति का एक बहुत अच्छा भजन गाया, जिसका प्रभाव उस पर अटल रीति से पड़ा। वह बहुत लज्जित हुई और सदाचार और धार्मिकता के भाव से अपने घर लौट गई। शायद उसी दिन से उसने वेश्या का कार्य छोड़ दिया। उपर्युक्त भजन इस आशय का था:—"उसी राम ने, जिसने मुझे बनाया है, तुमको भी बनाया है—हम लोगों का निर्माणकर्त्ता एक ही है। तुम सचमुच मेरी माँ की बहन हो। तुम में और मुझ में माँ बेटे का संबंध है। मेरी शिक्षा मानकर घर लौट जाओ, और एकनिष्ठ होकर राम की भक्ति में रत हो जाओ। तुम को विश्वास रहे कि ऐसा करने पर राम तुम्हारी कलुषित पापमय आत्मा का अधोगति से उद्धार कर देंगे"। इस प्रकार कबीर ने अपने शत्रुओं से संग्राम में विजय पाई। अब कोई शत्रु उनका सामना न कर सकता था। बल, कपट, प्रलोभन सब कबीर पर प्रयुक्त किए गए; परंतु सदाचार और धार्मिकता की प्रज्ज्वलित अग्नि के सामने ये सब ऐसे नष्ट हो गए, जैसे प्रातःकाल का कोहरा सूर्योदय से छिन्न भिन्न हो जाता है।

आलोचना-खण्ड

ऐसा जान पड़ता है कि कबीर बहुत दिनों तक जीवित रहे; परन्तु निस्सन्देह उनकी अवस्था इतनी अधिक न रही होगी, जितनी कि उनके अनुयायी कहते हैं। वे कहते हैं कि कबीर का जन्म-काल १२०० सं० और मरण-काल १५०० सं० है। कलियुग में ३०० वर्ष जीना नितान्त असंभव है। हिंदू-शास्त्रानुसार मनुष्य-जीवन लगभग १०० वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। परंतु अनुभव से प्रतीत होता है कि यह सीमा कभी कभी उल्लंघित

की गई है। यूरोप के सबसे बड़े दीर्घ-जीवी मि० पार का मरण १५४ वें वर्ष में हुआ था। मृत्यु के बाद उनके मस्तिष्क के अनुसंधान (Post-mortem Examination) से ज्ञात हुआ कि यदि वे प्राकृतिक साधारण व्यवस्था से रहते, तो कुछ और दिनों तक जीवित रहते। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में भी १०० वर्ष से ऊपर तक के मनुष्य हो गए हैं और होते हैं। अभी गत वर्ष में मेरे ही गाँव का एक लोनिया ११५ वें वर्ष में मरा था। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से पता चलता है कि इस कलियुग में मनुष्य-जीवन १६० या १७० वर्षों से अधिक का नहीं हो सकता। इस विचार से कबीर का ३०० वर्ष जीना असंभव नहीं तो और क्या हो सकता है? यदि यह भी मान लिया जाय कि कबीर भारतवर्ष के सब से बड़े दीर्घजीवी थे, तो भी उनकी अवस्था १६० या १७० वर्ष से अधिक नहीं हो सकती।

कबीर रामानन्द स्वामी के शिष्य थे। रामानन्द भी रामानुज के (जो कि वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तक थे) शिष्य थे। इतिहास से ज्ञात होता है कि धारासमुद्र के राजा विष्णुवर्धन (१११७ ई०—११३७ई०) ने वैष्णव होकर रामानुज को अपना गुरु माना। इससे उक्त प्रसिद्ध धर्मोपदेशक का बारहवीं शताब्दी में होना सिद्ध है। यह भी निर्विवाद है कि रामानन्द रामानुज के ठीक बाद के शिष्य न थे। सत्यतः रामानन्द रामानुज से चौथी पीढ़ी में थे। वे राघवानन्द के अनुलोम शिष्य थे। ये सब उपदेशक दीर्घजीवी थे। यदि रामानुज के बाद रामानन्द तक तीनों ऋषि १००—१०० वर्ष के लगभग जीवित रहे हों, तो भी रामानन्द का काल चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग आता है। प्रोफे० एच० एच० विलसन ने भी ऋषि का यही समय बतलाया है। कबीर के मंत्र लेने के समय रामानन्द अवश्य बहुत वृद्ध हो गए थे। उनकी भी अवस्था १०० वर्ष के लगभग रही होगी। इसलिये यदि हम कबीर का काल १५ वीं शताब्दी मानें, तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस कथन का समर्थन एक और बात से भी होता है। यह कहा जा चुका है कि कबीर की माँ ने कुछ दुष्ट ब्राह्मणों के कहने पर सिकंदर से अपने लड़के की शिकायत की थी। यह सिकंदर, लोदी खानदान का दूसरा बादशाह और बहलोल लोदी का लड़का था। सिकंदर १४८८ ई० से १५१७ ई० तक राजगद्दी पर रहा। बहलोल बड़ा पराक्रमी शासन-कर्त्ता था। उसने उत्तरीय भारत का एक बहुत बड़ा भाग, पंजाब से बनारस तक, जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। सिकंदर ने अपने बाप के जीते हुए सब मुल्कों पर अधिकार ज्यों का त्यों रक्खा और बिहार को भी अपने राज्य में मिलाया। इसलिये बहुत संभव है कि सिकंदर बनारस में कुछ दिनों तक रहा हो और अतः कबीर की माँ को शिकायत करने का अच्छा मौक़ा मिला हो। इस प्रकार कबीर के अनुयायियों का उनके मरण के विषय में कथन अधिक असत्य नहीं प्रतीत होता। उनके अनुसार भी कबीर की मृत्यु १५०० सं० (१४४३ ई०) में हुई। १४४३ ई० और १४८८ ई० में बहुत अंतर नहीं है। अतः कबीर का मृत्यु-काल लगभग १४९० ई० मानने पर उनका जन्म लगभग १३२० ई० में हुआ होगा।

कबीर की मृत्यु भी उतनी ही आश्चर्य-जनक है, जितना कि उनका जन्म। जब कबीर को ब्रह्म-ज्ञान के बल से मालूम हुआ कि अब हमारे मरने का समय समीप है, तब उन्होंने अपने अनुयायियों और शिष्यों से अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया के विषय में कहा। उनके शव का क्या किया जाय, इसके विषय में उन्होंने दो असंगत आदेश दिए। हिंदुओं से जलाने को कहा और मुसलमानों से क़ब्र में गाड़ने को कहा। उस समय इसका पूर्ण आशय कोई समझ न सका। यह असंभव सा प्रतीत होता है और आदेशकर्त्ता की बुद्धि में कुछ विकार आ जाना बतलाता है। परंतु कबीर को सत् असत् का अच्छा ज्ञान था; उनका कथन असत्य तथा विकारयुक्त नहीं हो सकता था। अंत में, कहा जाता है कि,

जिस दिन कबीर का प्राणांत हुआ, अथवा वे अंतर्द्धान हुए, वे पृथ्वी पर लेट गए और अपने शरीर को एक बड़े कपड़े से ढक लिया। थोड़ी देर में अंत हो जाने पर उनके शिष्य झगड़ने लगे। हिंदू कहते थे कि शव जलाया जायगा और मुसलमान क़ब्र में गाड़ने पर तुले थे। जब झगड़ा खूब ज़ोरों से हो रहा था, दोनों ओर की भलाई चाहनेवाला कोई आकर कहने लगा कि कपड़ा उठाकर देखो तो सही। वैसा किए जाने पर कपड़े के नीचे केवल फूलों का ढेर मिला। अब झगड़ा शांत हुआ। आधे फूल हिंदू राजा वीरसिंह के आदेशानुसार हिंदू लोग ले जाकर जलाकर प्रसन्न हुए और आधे मुसलमानों ने क़ब्र में गाड़कर खुशी मनाई। हिंदुओं ने काशी में 'कबीरचौरा' नामक स्थान पर अंत्येष्टि-क्रिया की थी। मुसलमानों ने मगहर में दफ़न किया था। ये दोनों स्थान कबीर के अनुयायियों के लिये बहुत पवित्र और महत्वपूर्ण हैं। वर्ष में एक बार दूर दूर से यात्री इन स्थानों के दर्शनार्थ आते हैं। कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर का मरण अगहन की एकादशी को हुआ था।

कबीर के बहुत चेले थे जिनमें से मुख्य बारह थे—गोपाल, भोगादास, नारायणदास, चर्मणदास, ओगादास, कमलदास, जीवनदास, लच्छलि, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंदनदास और रैनालदास। ये सब शिष्य बड़े पढ़े लिखे और बुद्धि-संपन्न थे। प्रत्येक ने समाज के लिये एक एक ग्रंथ लिख छोड़ा है। कबीर-पंथी इन ग्रंथों का बड़े आदर से अनुशीलन करते हैं। इस समय कबीर संप्रदाय उनके बारहों शिष्यों के अनुसार बारह शाखाओं में विभक्त है—एक एक शिष्य ने एक एक मार्ग निकाला था।

कबीर संप्रदाय का सब से बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्मवादिता है। वही केवल अखिल विश्व का निर्माणकर्त्ता, अनादि और अनंत है। उसने किसी एक धर्म-मार्ग को नहीं अपनाया है, प्रत्युत् वह सब धर्मों

में समान-रूपेण विद्यमान है। इस विचार से एक धर्म से दूसरे में कोई विशेष अंतर नहीं। तदनुसार कबीर ने इस बात पर बड़ा जोर दिया था कि हिंदुओं और मुसलमानों का ईश्वर एक ही है। भाग्यवश वह समय ऐसा था कि हिन्दुओं और मुसलमानों का वैर-भाव कुछ दूर हो गया था—वे एक दूसरे से मैत्री-भाव रखने लगे थे। यही कारण है कि कबीर के इस सिद्धांत का लोगों ने समर्थन किया और इससे वे प्रभावान्वित हुए।

कबीर के अनुसार ईश्वर केवल सर्वधर्मगत ही नहीं है, प्रत्युत् वह अखिल-विश्व-व्यापक भी है। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें ईश्वर का अंश न पाया जाता हो, अतः प्रकृति के किसी अंग की अवहेलना भी नितांत घृणित और अनुपयुक्त है। सब पदार्थों को आदरपूर्वक, अनुराग से देखना चाहिए। परन्तु कबीर न तो विश्व-देव-वादी ही थे और न अनेकदेववादी। वे केवल आस्तिक अर्थात् ईश्वर-वादी थे। इस प्रकार वे आधुनिक ब्राह्म-समाज (ब्राह्मो-समाज) के अग्रसर कहे जा सकते हैं। ब्राह्म-समाज के सब से बड़े नेता केशवचंद्र सेन कहते हैं—"मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही में ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सब से पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति-ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सबसे पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है। वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमें आश्चर्य और कृतज्ञता का संचार करे"। वे फिर कहते हैं—"यह प्रकृति का नैसर्गिक पूजन न तो विश्व-देववाद है और न अनेकदेववाद। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है; अर्थात् साधारण ईश्वरवाद तथा आस्तिकता है"। नीतिज्ञ कवि पोप का कथन है—"हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं"। सत्यतः प्रकृति-पूजन ईश्वर-पूजन की प्रथम श्रेणी है, अथवा परोक्ष अपरोक्ष में प्रतिभासित होता है। कबीर का धार्मिक सिद्धान्त ठीक ऐसा ही मालूम होता है।

कबीर मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। वे कहते हैं कि ईश्वर परोक्ष और अद्रष्टव्य है; और इसलिये उसकी प्रतिमा बनाना मूर्खता है। मूर्त्ति में जीवन का कुछ भी अंश नहीं रहता, अतः मिष्टान्न, फल तथा अन्य खाद्य द्रव्यों का उसको भोग लगाना हास्यास्पद है। मूर्त्ति ईश्वर नहीं है; अतः उसका पूजन निरर्थक और व्यर्थ है। जब एक निराकार परब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, तो पत्थर और मूर्त्ति की पूजा करने से क्या लाभ ? थाली-भर मिठाई का भोग लगाने से क्या मूर्त्ति उसका कुछ भी भाग खा सकती है ? मूर्त्ति को खाद्य द्रव्य के स्वाद का क्या ज्ञान ? अज्ञानता में मनुष्य चंदन से उसके शरीर का लेपन करता है, जिसके न कान हैं, न जीभ है, और जो न स्पर्श-शक्ति का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो लोग तुलसी के पत्ते से पत्थर की पूजा करते हैं, वे स्वयं पत्थर से अच्छे नहीं हैं। वे बने हुए भक्त हैं। जिसको अखिल-विश्वात्मा परमेश्वर का कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह चौरासी योनि में भटकता हुआ सर्वदा नरक का ही सेवन करता है। सच्चा पूजन जीवात्मा का होता है। पूजन से और बाह्य आडम्बर से कुछ भी संबंध नहीं। हिंदू-धर्मानुसार जो कर्मकाण्ड और आडम्बर हैं, वे सत्य आध्यात्मिक पूजन का लघु अंश भी नहीं हैं। ईश्वर-प्राप्ति में मुख्य वस्तु भक्ति है। ईश्वर में मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का द्वार है।

पक्के हिंदू और मुसलमान की तरह माला जपने में कबीर को तनिक भी विश्वास न था। रोमन कैथलिक-वाले भी माला को बहुत महत्व देते हैं। कबीर कहते हैं कि भक्ति का आडंबर निरर्थक है। ईश्वर-प्रार्थना करनेवाले को कबीर शिक्षा देते हैं:—

"कर का मनका छाँड़िकै, मन का मनका फेर"।

इस प्रकार कबीर का धार्मिक विचार नितांत विशुद्ध है; उसमें ऊपरी सजावट और बाह्याडंबर का लेशमात्र भी नहीं है।

मृत पूर्वजों का जल से तर्पण करना हिंदुओं में एक साधारण बात है। कबीर को इस पर भी विश्वास न था, और वे इसकी हँसी उड़ाना चाहते थे। एक दिन जब कि वे नदी में स्नान कर रहे थे, कुछ हिंदू अपने मरे हुए पुरखों का तर्पण कर रहे थे। इसे देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर पानी डालना आरंभ किया। उन हिंदुओं में से एक ने यह देख कर कबीर से पूछा—"ऐ जोलाहे! यह तू क्या कर रहा है"? कबीर ने उत्तर दिया—"मैं एक खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से कुछ दूर है"। इस पर हिंदू ने उनको मूर्ख बनाया; क्योंकि दूर के खेत को इस प्रकार सींचना असंभव था। कबीर ने भी बड़े मार्के का उत्तर दिया। उन्होंने कहा—"तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो, क्योंकि तुम तो वैकुंठवासी पूर्वजों को जल पहुँचाना चाहते हो"। इस तरह कबीर ने हिंदुओं की इस प्रणाली की हँसी उड़ाई।

कबीर की शिक्षा है कि आत्म-ज्ञान प्राप्त करना आत्मा के परमानंद के लिये बहुत आवश्यक है। बिना आत्म-ज्ञान के आत्मा की गति ईश्वर तक नहीं हो सकती और बिना ऐसी गति के निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता, जो कि आत्मा के परमानंद से भिन्न नहीं है। कबीर बड़े जोर-दार शब्दों में कहते हैं—"अपने महल को जाओ, सदा शांति और आनंद से रहो। ऐ साधु! स्वयं अपना घर जानो, और यम-पाश से मुक्त हो। यदि तुमको अपना ही घर नहीं मालूम है, तो संसार त्याग-ने पर तुम कहाँ जाओगे"?

सद्गुरु के सत्संग की महत्ता की कबीर ने मुक्तकंठ में प्रशंसा की है। ऐसा सत्संग बहुत लाभकारी है और मनुष्य को सर्वोच्च निर्वाण पद तक पहुँचाने में बहुत सहायता देता है। यह पीयूष-वर्षा करता है और स्वर्गीय आनंद का अनुभव कराता है। कबीर बड़ी वाक्पटुता से कहते हैं—"साधु ही मेरे परिजन हैं। पदार्थ मूर्त्तियों के सामने न रखकर साधुओं और संन्यासियों को खिलाए जायँ, तो बहुत अच्छा

हो। ये लोग पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं और इसलिये इन लोगों की उत्तम भोजन से तृप्ति करना उस स्वर्गीय परमात्मा की तृप्ति करने के बराबर है"।

मनुष्य के विषय में कबीर के विचार बहुत उन्नत हैं। वे बड़ी दृढ़ता से कहते हैं—"सब मनुष्य समान हैं। सचमुच उनमें कुछ अंतर नहीं है। बड़े से बड़ा ब्राह्मण छोटे से छोटे चाण्डाल से जौ-भर भी छोटा नहीं है। वर्ण-विभाग समाज की कृति का फल है; ईश्वर ने ऐसा नहीं किया है"। इस सिद्धान्त के अनुसार ही कबीर ने प्रत्येक वर्ण से शिष्य बनाए थे। इस विषय में कबीर अपने गुरु रामानंद से भिन्न मत के थे, क्योंकि वे ब्राह्मणों के अतिरिक्ति किसी अन्य वर्णवाले को मंत्र न देते थे। कबीर को तो, जैसा कहा जा चुका है, उन्होंने भूल से चेला बना लिया था। परंतु यहाँ भी रामानंद अपने पूर्व अनुष्ठान और मार्ग से विचलित नहीं हुए थे, क्योंकि कबीर भी तो जन्म से ब्राह्मण ही थे। कबीर ने गुरुपरंपरागत इस पद्धति का खण्डन किया। वे हास्य-पूर्ण भाव से कहते हैं—"यद्यपि माता के कंधे पर यज्ञोपवीत नहीं रहता, तथाति पुत्र अपने को 'पाण्डेय ब्राह्मण' कहता है। उसी प्रकार यद्यपि बीबी फातिमा की मुसलमानी (अग्रेन्द्रिय-कर्तन) नहीं हुई थी, तथापि उसके पुत्र को उस दयाशून्य क्रिया के कष्ट सहने पड़े थे। अतः ब्राह्मण और क़ाजी दोनों धर्मच्युत हैं"।

गुरु-शिष्य के संबंध के विषय में कबीर का कुछ और ही मत है। सार्वजनिक हिंदू मत में और उसमें बड़ा अंतर है। साधारण हिंदू अपने गुरु को ईश्वरवत् मानता है। केवल गुरु ही की सहायता से निर्वाण पद प्राप्त हो सकता है। इस संसार सागर के लिये वही नौका है। फारसी के प्रसिद्ध कवि हाफिज भी कहते हैं—"मुल्ला के आचरण पर कुछ भी आक्षेप न करते हुए सब मुसलमानों को बिना किसी आपत्ति के उनका आज्ञापालन करना चाहिए"। इसके प्रतिकूल कबीर का कथन

है कि आचार्य और शिष्य दोनों एक दूसरे के मित्र हैं। एक दूसरे को कैवल्य गति प्राप्त कराने में सहायता देता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति में पारस्परिक साहाय्य के अतिरिक्त गुरु शिष्य का संबंध अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। कबीर के अनुसार ईश्वर ही महान् गुरु है; उसका पद किसी ऐहिक पुरुष को नहीं मिल सकता। केवल उसके सहायतार्थ हमारी आत्मा अधोगति से मुक्त होकर स्वर्गीय सुख का अनुभव कर सकती है। ऐसा सुख केवल परमात्मा ही के हाथ मिल सकता है, दूसरे किसी के द्वारा नहीं। ईश्वर ही हमारा पथ-प्रदर्शक, सहायक और अंतिम ध्येय है। उसको छोड़ देने से हम अपनी आत्मा तथा सर्वस्व छोड़ बैठेंगे।

धर्म पर कबीर के अति उत्तम विचार हैं। उनकी विशुद्ध और निष्काम धार्मिकता पर रामानंद स्वामी भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। यहाँ तक कि कबीर के गुरु होकर भी वे उनके शिष्य बनना चाहते थे। वृद्ध ऋषि कहते थे—"कबीर को जोलाहा मानना मेरी अज्ञानता थी। मैं कबीर से दीक्षा लेने में बहुत प्रसन्न हूँगा और उस ब्रह्म की उपासना करूँगा, जो सदा उनके हृदय-मंदिर में वास करता है"। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में कबीर की पूर्ण विजय हुई। कबीर का नाम धर्मोपदेश तथा धर्म-प्रचार में इतना बढ़ा कि ब्राह्मण साधु रामानंद की भी ख्याति उनके सामने कुछ न रह गई। सत्यतः कबीर का स्थान आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अति उच्च है। जीसस क्राइस्ट की तरह वे भी सर्वाधिपति परमेश्वर के पुत्र माने जाते हैं और देव-तुल्य आदर से सम्मानित होते हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों की तरह कबीर मनुष्य और ईश्वर के बीच किसी मध्यस्थ की सत्ता पर विश्वास नहीं रखते थे। प्रतिनिधि द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी प्राप्ति चाहनेवाले को और ही उपाय करना होगा। हाँ, यह हो सकता है कि वह किसी अपने से बुद्धिमान

से तद्विषयक शिक्षा ग्रहण कर ले; परंतु निर्वाण-पद की प्राप्ति केवल व्यक्तिगत प्रयत्न से ही होगी। परमेश्वर में पूर्ण विश्वास और हृद्गत भक्ति ही जीव को नरक की यातनाओं से बचा सकती है। इस प्रकार कबीर का धर्म सब आदर्शों, पक्षपातों और मूढ़ विश्वासों से परे होकर उस अनादि और अनंत परब्रह्म की सत्ता के विश्वास पर अवलंबित है, जो अगोचर, निर्विकार, दुर्बोध, सर्वव्यापक, विश्वसृज, विश्वंभर और विश्वनाशक है।

गुरु नानक की तरह कबीर की भी एक धार्मिक पुस्तक थी, जिसका वे बड़ा आदर करते थे। कबीर-पंथियों के लिये यह रामायण, कुरान तथा बाइबिल है, और एक अमोघ पथ-प्रदर्शक है। यह इतनी पवित्र मानी जाती है कि कबीर-पंथी को छोड़कर दूसरा इसे छू तक नहीं सकता। इसका स्थान कीबर-सम्प्रदाय में वही है, जो कि 'ग्रंथ साहब' का सिक्ख-सम्प्रदाय में है। किसी किसी पुण्य अवसर ही पर यह निकाली जाती है। 'चौक आरती' के शुभ अवसर पर एक सुंदर रेशमी कपड़े से ढककर एक वेदिका बनाई जाती है और उसी पर यह पुस्तक रखी जाती है। कबीर-पंथियों के लिये 'चौक आरती' एक बहुत महत्वपूर्ण त्यौहार है। उनकी विवाह-व्यवस्था बहुत साधारण है। विवाह में केवल इसी पुस्तक और मालाओं के विनिमय की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक मनुष्य, जिसका आचरण शुद्ध और जीवन आध्यात्मिक तथा पुण्यमय हो, महंत हो सकता है। यह अधिकार केवल पुरुष ही को नहीं है। ईश्वर की अटल भक्त और शुद्ध आचार-वाली कोई सत्य-भाषिणी स्त्री भी महंत हो सकती है। किसी महंत को मांस मछली खाने की आज्ञा नहीं है। परंतु यदि कोई खा ले तो उसको प्रायश्चित्त करके तप करना पड़ता है। ऐसा करने पर वह फिर महंत बनाया जा सकता है। कबीर पुनर्जीवन पर विश्वास रखते थे। उनका कथन है

कि केवल पापात्मा ही को "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणम्" का असह्य कष्ट सहना पड़ता है; पुण्यात्मा इससे मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की पूजा के लिये केवल पवित्र और पुण्य गान ही आवश्यक है। किसी अन्य प्रकार की प्रार्थना-विधि की कोई आवश्यकता नहीं। परंतु इधर चलकर कबीर-पंथियों में कुछ धार्मिक विकार आ गए हैं। उनमें से कुछ एकाग्रचित्त होकर ध्यानावस्थित रहने लगे हैं, और कुछ माला भी फेरने लगे हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कबीर के बारह शिष्यों के अनुसार कबीर-पंथी बारह भागों में विभक्त हैं। इन बारहों पंथों के अलग अलग सिद्धांत और तत्व हैं, परंतु सब अद्वितीय ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वेदान्त का अद्वैत-वाद ही कबीर-सम्प्रदाय का मुख्याधार है। परंतु कबीर-पंथी अपने गुरु से सृष्टि-निर्माण के विषय में प्रतिकूल मत रखते हैं। कबीर कहते हैं कि केवल परमात्मा ही विश्वकर्ता हैं; परंतु उनके अनुयायी 'काल' को भी बीच में लाते हैं। उनका कथन है—"दयालु ईश्वर ने 'काल' की सृष्टि की; और उसको आज्ञाकारी तथा प्रतिभाशाली पाकर अपनी शक्तियों का उस पर न्यास कर दिया। इस प्रकार ईश्वर ने 'काल' को विश्वनाथ बना दिया। ऐसे अधिकार से आरोपित 'काल' ने विश्व की रचना की। वह सदा से उसका पालन करता है और आवश्यकता होने पर उसका नाश कर देगा। परमेश्वर केवल पुण्यात्मा को अपने अधिकार तथा शासन में रखता है"।

कबीर-पंथी वर्ण-विभाग-व्यवस्था को मानते हैं, यद्यपि उनके गुरु ने इसका निरादर किया था। वे लोग कहते हैं—"प्रत्येक वर्ण का मनुष्य हमारे पंथ में आ सकता है, परंतु उसका वर्ण-भेद पूर्ववत् ही रहेगा। परन्तु विवाहोत्सव तथा अंत्येष्टि क्रिया में वह मूर्त्ति-पूजन नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसा करने से वह कबीर-पंथी नहीं रह जायगा"।

किसी अन्य धर्म-वाले के साथ विवाह करना कबीर-पंथियों में

निषिद्ध नहीं है। परंतु वर और कन्या दोनों को माला पहनना आवश्यक है और तिलक-स्थापन के बिना विवाह नहीं हो सकता। परंतु यद्यपि कबीर-पंथी किसी दूसरे धर्म-वाले की कन्या से ब्याह कर सकता है, तथापि स्वयं अपने धर्म में अन्तर्विवाह मना है।

उपसंहार में कबीर के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनकी जीवन-व्यवस्था साधारण जनता की जीवन व्यस्वथा से कहीं उच्चतर है। उसमें स्वर्गीय शक्ति तथा दैविकता का पद पद पर अनुभव होता है। कबीर एक बहुत बड़े धर्मोपदेशक थे। जो कुछ वे करते थे, सब धर्म-प्रचार ही के हेतु। उनकी जितनी रचनाएँ हैं, सब उपदेशमय हैं। साधारण जनता पर प्रभाव डालने ही के लिये वे ग्राम्य भाषा का आश्रय लेते थे। इसी भाषा में उन्होंने सारी कविता की है। अधिकतर कविता द्वारा ही वे उपदेश देते थे। कारण यह है कि संगीतमय होने के कारण कविता से लोग अधिक प्रभावान्वित होते हैं। वे काव्य-गौरव तथा काव्य-सौष्ठव के लिये कविता नहीं करते थे। उनका संपूर्ण ध्येय धर्म-प्रचार ही रहता था। इसी लिये इस लेख में कबीर की कविता के गुण दोष का कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। संपूर्ण ध्यान धर्मप्रवर्तक कबीर की ओर रखा गया है, न कि कवि कबीर की ओर। सत्यतः कबीर कवि नहीं थे। वे केवल धर्मोपदेशक थे—उपदेस को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये ही वे कविता करते थे। अभी तक कबीर-पंथ की ओर लोगों की प्रवृत्ति नहीं हुई है। आशा है, भविष्य में इसके गुण दोष की आलोचना करते हुए विद्वन्मण्डली में इसका सम्यक अध्ययन होगा, और संसार के पवित्र पंथों में इसको एक उपयुक्त उच्च स्थान दिया जायगा।

(१८) मंत्री कर्मचंद्र

[लेखक—पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

बीकानेर नगर के खरतरगच्छीय वृहदुपाश्रय के पुस्तक भंडार में "कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्" नाम की एक संस्कृत की ऐतिहासिक पुस्तक मिली है, जिसे श्रद्धेय पंडित गौरीशंकर जी महाराज छपवा रहे हैं। इस पुस्तक में मुख्य रूप से कर्मचंद्र का और गौण रूप से उसके पूर्वजों का चरित्र वर्णित है। इसके रचयिता का नाम जयसोम है, जो श्रीप्रमोद-माणिक्यगणि का शिष्य था और उसने, जैसा कि निम्निलिखित पंक्तियों से प्रगट होता है, अपने गुरु की प्रेरणा से और कर्मचंद्र के जैन धर्म के समृद्धि-वर्धक चरित्र से प्रसन्न होने पर इस पुस्तक की रचना विक्रम संवत् १६५० में लाहौर में की थी—

नृप विक्रमत: खभूतरसशशिमिते वर्षे ॥५२६॥
लाभपुर नगरे...प्रमोदमाणिक्यगणि शिष्यैः ॥५२९॥
श्रीजयसोमैर्विहिता धीसखवंश्यावली गुरोर्वचसा ॥५३०॥
भूयांसः संति भूमीशा भूयांसः संति मंत्रिणः।
श्रीजैनधर्म माहात्म्यमनेनाधिकमेधितं ॥१४॥
तेन गीर्मामकी तस्य वर्णनाय प्रगल्भते।
कस्राम्रकलिकास्वादात्कोकिला किं न कूजति ॥१५॥

इस ग्रंथ में ५३७ श्लोक हैं, परंतु अन्य ग्रंथों की भाँति यह सर्गादि में विभक्त नहीं है। रचयिता बिना कोई व्यवधान निरूपण किए "ॐ श्री गौतमायनमः" से प्रारंभ कर "इति श्री...संपूर्णम्" तक निरन्तर लिखता चला गया है। जिस बोहित्थ वंश की वंशावली जयसोम ने इस ग्रंथ में संकलित की है, वह किसी रूप में उसके पूर्व भी संयोजित थी;

क्योंकि उसने निम्नलिखित श्लोक में वाचक पुण्यसार से वंश-वृत्तांत अवगत करना स्वीकृत किया है—

वंश्यावलीवाचकपुण्यसार-
मुखाद्यथाश्रावि तथा विविच्य।
अस्माभिरप्यादरसारचित्तै-
र्लिखीकृतेऽयं कृतिनां सुखाय ॥५३४॥

जयसोम ने इस वंश-चरित्र को यथार्थ एवं निर्व्याज वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है और ग्रंथ के पारायण से ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत अंशों में उसने अपनी प्रतिज्ञा को निभाया है। उसने लिखा है—

यदधिकमत्राभिहितं न्यूनं वा वर्णितं मया विहितात्।
तत्र मनागपि नागो यस्मादन्योक्तमिह लिखितं ॥५३१॥
रक्तमतिर्वदतितरां यस्मादधिकं कृतादपि प्रायः।
द्विष्टः कृतमपि सकलं न वदति यदपलपनाकुलितः ॥५३२॥
पूर्वजानामदृष्टत्वाद्रागद्वेषौ न तेषुमे।
दृष्टानां तु यथादृष्टं वर्णना विदधेमया ॥५३३॥

आशय—यदि मैंने इस ग्रंथ में यथार्थ से अधिक अथवा न्यून वर्णन कर दिया हो, तो इस विषय में मेरा रत्ती भर भी दोष नहीं है, क्योंकि मैंने तो दूसरों का कहा हुआ लिखा है। देखा गया है कि जो अनुरागी होता है, वह प्रायः किए हुए से भी अधिक वर्णन करता है; और जो द्वेषी है, वह तो सत्य को भी झूठ बनाकर कहने की रुचि करता है और यथार्थ बात को भी छिपाता है। मैंने तो इस वंश के पूर्वजों को देखा ही नहीं; अतएव न उनमें राग है न द्वेष। हाँ जिनको मैंने देखा है, उनके चरित्रों का वर्णन जैसा देखा, वैसा ही किया है।

जयसोम के विषय में इस ग्रंथ से जो कुछ ज्ञात हो सकता है, वह इतना ही है कि वह श्रीप्रमोदमाणिक्य गणि का शिष्य था। उसका दीक्षा संस्कार माणिक्य सूरि ने किया था और उसने जिनचंद्र

सूरि से अनुचान (आचार्य) पदवी प्राप्त की थी। अन्य साधनों से यह भी पाया जाता है कि उन्होंने 'विचाररत्न संग्रह' नामक एक और ग्रंथ (संवत् १६५७ में) रचा था। उनके संग्रह की 'पंचलिंगी विवरण' नाम की पुस्तक पूने के डेकन कालेज के संग्रह में है, जिसके अंत में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

"संवत् १६६३ वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्रीमद्युगप्रधान श्रीजिनचंद्र सूरिविजयराज्ये श्रीक्षेमशाखायां वाचनाचार्यश्रीप्रमोदमाणिक्यगणि शिष्यश्रीजयसोमोपाध्यायनां प्रतिरियं वाच्यमाना चिरंनंद्यात्"।

जयसोम के एक शिष्य का नाम गुणविनय था, जिसने कई संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ रचीं; और कर्मचंद्र के विषय में 'कर्मचंद्र वंशावली प्रवंध' नामक गुजराती भाषा का काव्य वि० सं० १६५५ में रचा, जिसमें उसने अपने गुरु के बनाए हुए संस्कृत ग्रंथ से बहुत कुछ अंश लिया है।

ग्रंथ का सार

देवलवाटक * नाम के नगर में देवड़ा (चौहानों की एक शाखा) वंशी "सागर" नाम का एक राजा हुआ जिसके मानवती मुख्य और सात अन्य रानियाँ थीं। उसने अपने उत्कर्ष से मालवा के शाह के साथ स्पर्धा की और उसके देश को ऊजड़ किया।

सागर के बोहित्थ, गंगदास और जयसिंह नाम के तीन पुत्र हुए जिनमें सब से बड़ा बोहित्थ, जिसका विवाह बहुरंगदेवी से हुआ था, इतना लब्धप्रतिष्ठ हुआ कि उसके वंशज अब तक अपने आप को "बोहित्थराज" (बोहित्थड़े) कहकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं। बोहित्थ ११०० उद्भट वीर पुरुषों को लेकर चित्रकूट (चित्तौड) में

* देवलवाटक को इस समय देलवाड़ा कहते हैं। यह उदयपुर राज्य में प्रसिद्ध एक-लिंगजी के मंदिर से तीन मील है।

राजसिंह (रत्नसिंह)* के पक्ष में रण करते हुए विजय और स्वर्ग को प्राप्त हुआ। उसके आठ पुत्र और एक पुत्री थी।

लौहित्थ के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र श्रीकर्ण राजकाज चलाने लगा। उसने बलपूर्वक मत्स्येन्द्र दुर्ग को छीना और "राणा" की उपाधि प्राप्त की। एक बार गोरी शाह † देवलवाटक ग्राम के निकट लूट लिया गया था। यद्यपि वह उस समय कुछ न कर सका, परंतु पीछे अनुकूल अवसर प्राप्त कर उसने वहाँ अपनी सेना भेजी जिसका सामना श्रीकर्ण ने ७०० कुटुंबियों के साथ किया। इन लोगों ने सोचा—

कस्तैर्जातैर्जातैर्भवति गुणो नाम येषु जीवत्सु।
चिरमुपभुक्ता वसुधोपभुज्यते वैरिभिर्विभयैः ॥३३॥
स्वामिनि परलोकगते न दोषदोऽस्याः परोपभोगोपि ॥
सूर्येऽस्ता द्रिमुपेयुषि तमोभिराक्रम्यते प्राची ॥३४॥

आशय—उन कुटुंबियों से क्या लाभ जिनके जीते जी उनके अधीन की धरणी को शत्रु निःशंक भोगने लग जायँ? हाँ धनी के निधन होने पर धरणी का दूसरों से भोगा जाना इतना निन्दनीय नहीं। उदाहरणार्थ सूर्य के अस्त होने पर पूर्व दिशा रूपी उसकी धरणी अंधकार से आक्रांत हो जाती है।

ये लोग बहुत साहस और वीरता के साथ लड़े, परंतु विजयश्री प्राप्त न कर सके। श्रीकर्ण वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके चारों पुत्र, जो अपनी माता के साथ पहले ही अपनी ननसाल "खेडि" ग्राम में

---

* रत्नसिंह रावल समरसिंह का पुत्र था और वि० सं० १३६० में अलाउद्दीन खिलजी के साथ की चित्तौड़ की लड़ाई में मारा गया था।

† ग्रंथकर्ता ने 'गोरी शाह' किस सुलतान को माना है, यह स्पष्ट नहीं होता। तो भी अनुमान होता है कि यह मालवे का पहला सुलतान दिलावरखाँ गोरी (अमी शाह) होना चाहिए, जिसको चित्तौड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह ने परास्त कर उसका माल असबाब लूटा था। श्रीकर्ण महाराणा का सामंत होने के कारण उनकी सेना में रहकर सुलतान से लड़ा होगा।

गए हुए थे, खरतरगच्छ के सूरि जिनेश्वर द्वारा जैनधर्मावलम्बी बन गए। इन्होंने शत्रुंजय और रैवत पर्वत के शिखर (गिरनार) की यात्रा की और मार्ग में सुपारियों के भरे थाल बाँटे, जिससे लोग इन्हें "फोफलिया" कहने लगे।

श्रीकर्ण के पौत्र तेजपाल ने गुर्जर देश के स्वामी को घोड़े आदि भेंट कर प्रसन्न किया और उससे कुछ देश मोल ले लिया। वह ३६ राज-वंशीय जातियों का न्याय करनेवाला होने के कारण अणहिलपत्तन में रहने लगा। उसने संघ के साथ शत्रुंजय और रैवत तीर्थों की यात्रा की; पाँच पाँच सेर का एक एक लड्डू सुवर्ण मुद्रा के साथ प्रत्येक जैन भाई के घर बाँटा और राजेंद्रचंद्रसूरि द्वारा जिनकुशलगुरू की सूरि-पद-स्थापना करवाई। जब वह संमेत शिखर की यात्रा करने निकला, तब म्लेच्छों ने धन के लालच से उसका मार्ग रोका; परंतु उसके सुभटों सहित रणोद्यत होने पर वे भाग गए। उसने २० जैन तीर्थों की यात्रा की, अनाथों के लिये सत्र खोले और जिनसंघपूजा में अनुरक्त हो अनशनव्रत कर शरीर त्यागा।

तेजपाल के पुत्र का नाम वील्हा था। उसने भी संघ के साथ शत्रुंजय और उज्जयंत (गिरनार) तीर्थों की यात्रा की और एक पौषध-शाला खोली, जिसमें श्रद्धालुओं के लिये विविध प्रकार के कच्चे पक्के अन्न पानादि द्वारा पारण का प्रबंध किया गया था।

वील्हा के पुत्र का नाम "कडुआ" था। वह पूर्वजों की भूमि का स्मरण कर पाटन से मेवाड़ आया और राणा जी से सन्मान प्राप्त कर चित्तौड़ में निवास करने लगा। राज्य से उसका संबंध क्रमशः बढ़ता गया। यहाँ तक कि एक अवसर पर मालवे के यवन राजा के आक्रमण की सूचना मिलने पर वह राणा के द्वारा "प्रधान" बनाया गया और उसने संधि कर शत्रु की सेना लौटा दी। इस बुद्धि-वैचित्र्य से प्रसन्न हो कर राणा ने उसे सब अंगों के आभूषण प्रदान किए और सन्मान-पूर्वक

सहर्ष सचिवाधीश बनाया। यहाँ से गौरवारूढ़ हो कर वह पाटण गया और वहाँ के राजा का भी सम्मान-भाजन बन पत्तनाधिपति बना। उसने बहुत धन व्यय करके विधिपूर्वक जिन-प्रतिमा स्थापित करवाई, मनुष्यों का कर छुड़वाया, नंदि महोत्सव कर लोकहिताचार्य द्वारा जिनराजगुरू को "सूरि" पद दिलवाया और उस उत्सव को देखने के लिये आए हुए लोगों को वस्त्रादि भेंट कर प्रसन्न किया। यों विपुल धर्म-धन एकत्र कर विषय-विमुख हो कर वह स्वर्ग को सिधारा।

कडुआ के पश्चात् क्रमशः मेरा, मांडण, ऊदा, नागदेव और जेसल के नाम वंशावली में आते हैं। ये सब जैन धर्म की सेवा करनेवाले हुए। मेरा मंत्रीश रहा; परंतु मांडण पूर्वजों की भूमि का स्मरण कर गुजरात को त्याग सपरिवार वीरमपुर में आकर रहने लगा।

वत्सराज जेसल का ज्येष्ठ पुत्र था। वह अपने बांधवों के साथ सुभटपुर (जोधपुर) में राजा रिणमल्ल के साथ रहता था। रिणमल्ल कपट-प्रबंध से चित्तौड़ में राणा कुंभा द्वारा मारा गया। इस दुर्घटना से संत्रस्त होकर उसका पुत्र जोधा अपने अवरोध(परिवार)तथा सेवा को साथ लेकर जांगल देश में चला गया। जोधा बहुत साहसी था। वह शत्रु के छिद्र को सावधानी से देखता रहा और अवसर पाकर मेदपाट (मेवाड़) पर विजय पा नारक के राजा को मार पुनरपि जोधपुर में सपरिवार आ विराजा।

जोधा के दो रानियाँ थीं, एक नवरंगदे और दूसरी जसमादेवी। पहली रानी का ज्येष्ठ पुत्र विक्रम (बीका) राज्य का उत्तराधिकारी था। परंतु दूसरी रानी की माया से मोहित होकर राजा ने कुमार विक्रम से कहा—

पित्र्यं राज्यं सुतो भुंक्ते किं चित्रं तत्र नंदन ।
नवंराज्यं य आदत्ते स धत्ते सुतधुर्यतां ॥ ११४ ॥

तेन देशोऽस्ति दुःसाधो जंगलो जगतीतले ।
त्वं साहसीति कृत्येऽस्मिन्नियुक्तोऽसिमयाधुना ॥ ११५ ॥

आशय—हे पुत्र ! पिता के राज्य को पुत्र भोगे, इसमें क्या बड़ाई है ? हाँ जो संतान नए राज्य को अपने अधीन करे, वह सम्मान की भाजन है । यही विचार कर और यह देखकर कि तुम साहसी तो हो ही, मैंने यह निश्चय किया है कि तुम जाओ दूसरे जांगल देश को, जो इस समय पृथ्वी पर दुर्जय गिना जाता है, और अपने पौरुष से विजय करो ।

राजकुमार ने भी यह सोचकर कि—

राज्यश्रीः पितृभुक्ता जननी पुत्रस्य तातसंजनिता ।
सा भगनीति विदित्वा पितुराज्ञांगीकृतानेन ॥ ११६ ॥

आशय—पिता की भोगी हुई राज्यलक्ष्मी पुत्र के लिये माता के समान है और पिता से उत्पन्न की हुई राज्यलक्ष्मी बहन के समान है, अपने पिता की आज्ञा सहर्ष स्वीकृत की ।

तदनंतर राजा ने मंत्री वत्सराज को, जिसने पहले जांगल देश में उसकी बहुत सेवा की थी, सत्कारपूर्वक अपने कुमार के साथ कर दिया । विक्रमी विक्रम ने "काहुनी" स्थान पर शनैः शनैः अधिकार कर लिया और क्रमशः उत्तरोतर राज्य बढ़ाता गया । उसने "कोडिम-देसर" नाम का एक नगर बसाया और राज्य-शासन का ऐसा सुप्रबंध किया कि अल्प काल में वह स्थान विद्या और व्यापार का केंद्र बन गया । वत्सराज इस नए राज्य का मंत्री नियुक्त हुआ और चूँकि यह नूतन विजय एवं राज्य-समृद्धि प्रायः उसी की बुद्धि, कौशल और पराक्रम का परिणाम थी, अतएव वह "परभूमि पंचानन" उपाधि से समलंकृत किया गया । वत्सराज की वीरता और कीर्ति देश-देशांतरों में फैल चुकी थी, जिसका एक प्रमाण यह है कि उसको मुलतान के राजा ने अच्छे अच्छे घोड़े और पंचाङ्ग उपहार कई बार भेंट किए

और एक बार छत्र भी भेंट किया, जिसे मंत्री ने अपने राजा को समर्पित कर दिया।

वत्सराज का ज्येष्ठ पुत्र कर्मसिंह था। उसने बिक्रम (बीका) के बालक पुत्र लूणकर्ण का राज्यतिलक (जोधपुर के) राजा से करवाया और विक्रम संवत् १५४१ में विक्रम के नाम से अच्छे दुर्ग से युक्त विक्रमपुर, जिसे आजकल बीकानेर कहते हैं, बसाया। उसने वहाँ नमिनाथ का एक चैत्य (मंदिर) बनवाया जिसकी स्थापना वि० सं० १५५६ में हुई और जो १५७० में बनकर संपूर्ण हुआ। उसने श्रीशांतिसागर सूरि द्वारा जैन हंस को "सूरि" पद दिलवाया और रैवताचल, अर्बुद, द्वारका आदि तीर्थों में लंभनिका के साथ यात्रा की। इन तीनों कामों में से प्रत्येक में उसका एक एक लाख रुपया व्यय हुआ। उसने संवत् १५४२ में सत्रशाला (अन्नसत्र) खोली और चौदह वर्ष तक कल्प का स्वाध्याय किया। उसने यत्नपूर्वक लूणकर्ण का विवाह चित्तौड़ की राजकुमारी से कराया। फिर किसी समय वह मंत्री नंदिगोकुल में लूणकर्ण के साथ शत्रुओं का नाश करने को गया और वहीं संग्राम में वीरगति को प्राप्त हुआ।

कर्मसिंह का छोटा भाई वरसिंह लूणकर्ण के ज्येष्ठ पुत्र जैतसिंह का मंत्री बना। इसने चंपापुर में मदफ्फर (मुजफ्फर) शाह से शत्रुंजयादि पर्वत की यात्रा करने के लिये छः महीने तक का फर्मान प्राप्त किया और विमल अर्बुद और रैवत तीर्थों की संघ के साथ यात्रा की और तीर्थ-स्थानों को कर से मुक्त कराया। इसने अकाल के समय दीन अनाथों के लिये अन्नसत्र खोला। यह राजा जैतसिंह (जैतसी, बीकानेर का राजा) का बड़ा विश्वासपात्र बना और दुर्गों की कुंजी तथा प्रजा का न्याय इसके अधीन रहा। [इसकी मृत्यु जैतसिंह के जीवन-काल में ही हो गई प्रतीत होती है; क्योंकि इसके पुत्र नगराज को भी इसी राजा का मंत्री कहा है।]

एक बार जैतसिंह ने जोधपुर के राजा मालदेव के जांगल देश पर आक्रमण करने के समाचार सुने और उसका विरोध करने में अपने आपको असमर्थ जान पारस्परिक परामर्श से अपने मंत्री नगराज को शेर शाह से सहायता लेने के लिये भेजा। वह राजकुमार कल्याण तथा राजपरिवार को सारस्वत (सिरसा) नगर में छोड़ अपना इच्छित कार्य सिद्ध करने को चला। परंतु उसके लौटने के पहले ही मालदेव का आक्रमण हो गया और जैतसिंह मारा गया। पीछे से मंत्री सहायता लेकर लौटा और जैसे तैसे मालदेव से जांगल देश को छुड़ा लेने में समर्थ हुआ। नगराज ने राजकुमार कल्याणमल्ल को राज्याभिषिक्त कर विक्रमपुर भेजा और आप शेर शाह के साथ गया। कुछ समय बाद वहाँ से घर को लौटते हुए मार्ग में अजमेर नगर में ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

नगराज के तीन पुत्रों में से संग्राम को, जो सब से छोटा परंतु बहुत निपुण-मति था, शेर शाह ने अपना मंत्री बनाया। राजा कल्याणमल्ल भी गुण-ग्राहक था। उसके घराने से इसका पीढ़ियों का संबंध चला आ रहा था; अतएव उसने उसे अपने यहाँ बुलवाया। वह श्रीमाल राजा से वार्तालाप कर मध्य देश को उलाँघ बहुत प्रतिभा से बीकानेर आया। वह अपनी माता का बहुत भक्त था और उसकी पुण्य-वृद्धि के लिये उसने २४ बार बीकानेर में चाँदी के रुपयों से लंभनिका (लायण) की और एक पौषधशाला बनवाई। अपने राजा कल्याणमल्ल के विवाहोत्सव पर, जो चित्तौड़ में हुआ, उसके (अर्थीतर्पणात्) अपनी तरफ से दान सत्कार कर अन्य राजाओं से बढ़कर यज्ञ यात्रा की शोभा बढ़ाई। तीर्थ-यात्रा करते हुए एक बार जब वह चित्तौड़ आया, तब राणा उदयसिंह ने उसका विशेष मान किया और आग्रहपूर्वक ग्राम, हाथी, घोड़े आदि देने चाहे। परंतु उसने अपने स्वामी की इस विषय में पूर्व से अनुमति नहीं ली थी, जिससे उन्हें स्वीकृत नहीं किया। वह

विद्या-प्रेमी भी असामान्य था। उसने ज्ञान दान के लिये न्याय-शास्त्र-निष्णात विद्वानों से अनेक विद्याभिलाषी साधुओं को यथेच्छ धन देकर पढ़वाया और जिनचंद्रसूरि का क्रियोद्धार उत्सव किया। उसने अर्बुद, उज्जयंत और विमलाचल की यात्रा की, शत्रुंजय तीर्थ का कर छुड़वाया और अनेक स्थानों में विपुल दान दिए। दुर्भिक्ष में एक दान-शाला खोली। हाजीखाँ और हसनकुलीखाँ से संधि कर अपने राज्य में जैन मंदिर और सधर्मियों की रक्षा की।

संग्राम का ज्येष्ठ पुत्र कर्मचंद्र हुआ जो इस ग्रंथ का नायक है। जयसोम ने इसकी जन्म-तिथि लिखने की कृपा नहीं की, न उसके शैशव काल की कोई घटना वर्णन की है। उसके अभिनव काल का जो कुछ अभिधान है, वह यह है—"कर्मचंद्रः क्रमान्मंत्र कलासुकुशलोऽभवत्"। वह क्रम क्रम से मंत्र-कलाओं में कुशल हुआ। इससे इतना मानना तो समुचित ही है कि उसने उस दंडनीति (राजनीति विद्या) का, जो मंत्री के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है, न केवल अध्ययन ही किया था अपितु प्रयोग में लाने की प्रवीणता भी प्राप्त कर ली थी। उसके पिता का जो वर्णन ऊपर दिया जा चुका है, इस बात का साक्षी है कि वह विद्या-प्रचार का कितना हठानुरागी था। ऐसी अवस्था में वह अपनी संतान को विद्वान् बनाने में कदापि किसी प्रयत्न की उपेक्षा नहीं कर सकता था। आगे चलकर जयसोम के निम्नलिखित दो श्लोक मिलते हैं जिनका आशय है कि कर्मचंद्र ने शास्त्रवेत्ता आचार्यों से सूत्र आदि ग्यारहों अंग शीघ्र सुने और श्रीसिद्धांत के लिखवाने में बहुत धन व्यय किया। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपचित और कार्य-समाकुल अवस्था में भी उसका विद्याप्रेम अन्यून रहा।

अंगान्येकादशापि द्राक् श्रुतानि श्रुतधारिणां।
गुरूणां सन्निधावर्थ सूत्रादि क्रमतोऽमुना॥ ३१५॥

श्रुतज्ञानस्य भक्त्यर्थं श्रीसिद्धांतस्य लेखने ।
धनं धनं पुनर्येन पुरा व्यापारितं विदा ॥ २१६ ॥

कर्मचंद्र के प्रशस्त लक्षण और मतिवैभव को देखकर राजा कल्याणमल्ल ने उसको अपना अमात्य बनाया और वह उसका तथा उसके लोकप्रिय उत्साह-संपन्न युवराज रामसिंह का बहुत कृपापात्र बना। कल्याणमल्ल को यह विदित ही था कि किस कपट-प्रबंध द्वारा उसका प्रपितामह विक्रमी विक्रम जोधपुर से बहिष्कृत कर दिया गया था और किस प्रकार मालदेव ने अकारण आक्रमण कर उसके पिता से जांगल देश छीन लिया था। इसका उसके हृदय में दारुण दुःख था; अतः उसने कर्मचंद्र से कहा—

यद्येकामपि घटिकां गवाक्षमारुह्य सुभटपुरदुर्गे ।
तिष्ठामि रणेश्वर तदा करिष्ये कमल पूजां (?) ॥२७१॥

आशय—हो रणेश्वर! यदि एक घड़ी भी मैं जोधपुर के किले के झरोखे में बैठूँ, तो कमल पूजा करूँ। अर्थात् अपने पितरों को तृप्त करूँ। (कमल—जल, तर्पण)

इसलिये तुमको कुमार रामसिंह के साथ अकबर के यहाँ जाकर ऐसा उद्यम करना चाहिए, जिससे मेरे पूर्वजों की इच्छा पूर्ण हो जाय। स्वामी छंदानुवर्ती मंत्री ने नाना प्रकार से अकबर को संतुष्ट किया और उसके द्वारा जोधपुर की अधीशता प्राप्त कर राजा कल्याणमल्ल को वहाँ के किले के झरोखे में बैठाकर उसकी इच्छा पूर्ण की। कृतज्ञ राजा ने कार्यक्षमी मंत्री को बुलाकर कहा कि तुम्हारे प्रयत्न से मैं तो सिद्ध-मनोरथ हुआ। अब तुमको जो वांछित हो सो कहो। मंत्री ने कहा कि नाथ! आपके प्रसाद से मैं तो तृप्त-काम हूँ। परंतु पुण्य-सेवार्थ यह चाहता हूँ कि वर्षा के चार मास में तेली, कुम्हार और हलवाई आपके देश में अपना धन्धा स्थगित रखा करें, नगर में वणियों से "माल" नामक राज कर न लिया जाय और भोज आदि के व्यापार में

भी चतुर्थांश राजभाग न लिया जाय। राजा ने ये बातें स्वीकृत कीं। परंतु इनमें मंत्री का आत्मीय स्वार्थ न देख उसने सहर्ष उसे चार गाँव भेंट किए।

तदनंतर एक समय नागपुर (नागौर) के पास उसने इब्राहीम को, जो अकबर से बाग़ी हो गया था, पराजित किया और रामसिंह की आज्ञा से अकबर के साथ गुजरात जाकर मिरज़ा मुहम्मद हुसेन को जीता। इसने संधि विग्रहादि नीति से सोमत, समियाना आदि देश वश में कर लिए और जावालपुर (जालोर) में जा वहाँ के राजा को अपने स्वामी के अधीन कर अर्बुद ले लिया।

विक्रम संवत् १६३५ में दुर्भिक्ष होने पर उसने १३ मास तक सत्र (अन्नक्षेत्र) जारी रखा। रोगियों के लिये भोजन और औषध का प्रबंध किया और अतिसार से ग्रस्त रोगियों को भात और दही के साथ सत्तू दिलवाया। इसका दान और दीन-वत्सलता इतनी विस्तृत थी की ऐसी कोई जाति, कोई कुटुम्ब या कोई गोत्र नहीं था जो इसके उपकार का ऋणी न हो। इसके औदार्य की सीमा यहाँ तक ही समाप्त नहीं हुई। इसने एक और भी सुकृत किया; और वह यह कि सधर्मी वणिक् समुदाय को कुटुम्ब की संस्था के अनुसार वर्ष वर्ष भर का व्यय पेशगी दिया और १३ मास के पश्चात् परदेशियों को मार्ग व्यय देकर उनके घर पहुँचा दिया।

पहले ऊकेश (ओसवाल) वंश में सारंग के वंश की स्त्रियाँ ही पैरों में सोने के आभरण पहना करती थीं; परंतु अकबर ने नूपुर भेंट करके इसके महत्व को भी बढ़ाया। इसने शत्रुंजय, मध्वपद्म (मथुरा) आदि तीर्थों में जीर्णोद्धार कराया, शत्रुंजय और उज्जयंत पर्वतों पर जैन मंदिर बनवाने को बहुत सा धन भेजा और प्रत्येक देश में काबुल तक लंभनिका बाँटी। इसने रामसिंह के राज्य में शिल्पकारों को चार पर्व में काम न करने की प्रणाली का पालन कराया, मरुभूमि में वृक्षों का

काटना बंद करवाया, पुजारियों से सब चैलों में प्रति दिन स्नान का प्रबन्ध कराया, फलबद्धीपुरी (फलौदी) में जिनदत्त सूरि और कुशल सूरि के रूप बनवाए और सतलज, झेक, रावी और सिंधु नदियों में मछलियों का पकड़ना बंद करवाया। इसने राजा रामसिंह से निवेदन कर हडफा स्थान के बलोचों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त किया; परंतु उनके बंदियों को अन्न वस्त्र दे अपने घर पहुँचा दिया।

कर्मचंद्र की दो स्त्रियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम स्वयं अकबर ने भाग्यचंद्र और लक्ष्मीचंद्र रक्खे।

कर्मचंद्र ने राजा रामसिंह के अनेक दुःसाध्य कार्य किए, उसके राज्य और मान की वृद्धि की और अनेक बार उसकी प्रसन्नता के परिचय भी लिए; परंतु आगे चलकर हम उसके संबंध में यह पढ़ते हैं—

दैवयोगान्निजेशस्य वैमनस्यमथान्मदा।
ज्ञात्वा मंत्री निजे चित्ते कलिकालविजृंभितं ॥३३५॥
आज्ञां राज्ञः समासाद्य समादाय निजं जनं।
मेदिनीतटमध्यास्त स्वामिधर्मधनाधिकः ॥३३६॥

आशय—किसी समय दैवयोग से अपने स्वामी के वैमनस्य को कलिकाल का प्रभाव समझ राजा को लेकर वह अपने कुटुम्ब के साथ मेड़ते में निवास करने लगा।

कर्मचंद्र की कीर्ति दूर दूर तक फैल चुकी थी। अतः उसको कई राजाओं के यहाँ से बुलावे आए, परंतु वह कहीं नहीं गया। अंत को अकबर के यहाँ से भी रामसिंह द्वारा बुलावा आया जिस को उसे स्वीकृत करना पड़ा। वह अजमेर होता हुआ लाहौर गया और अकबर से मिला, जिसने उसे एक घोड़ा और हाथी भेज दिया और अपना कोषाध्यक्ष बनाया और तासाम (पंजाब में) जिले का शासक बनाया।

एक बार सलीम के मूल नक्षत्र में एक कन्या उत्पन्न हुई। तब कर्मचंद्र ने अकबर के कहने पर विशेष विधि से सोने चाँदी के घड़ों से शांतिक स्नान करवाया।

अकबर को धर्म-चर्चा से बहुत अनुराग था। यह पता लगते ही कि जिनचंद्र जैन दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान् हैं, उसने उन्हें कर्मचंद्र द्वारा गुजरात से बुलवाया। शाह का पत्र उन्हें स्तंभतीर्थ (खंभात) में मिला। वहाँ से वे राजधानीपुर (राधनपुर) को गए और गुजरात तथा शिवपुरी (सिरोही) होते हुए जाबालपुरः (जालौर) में आए। वहाँ पर उन्हें शाह का दूसरा पत्र मिला, जिसमें यह नम्र निवेदन था कि वे देह को कष्ट न दें, प्रसन्नतापूर्वक शनैः शनैः पधारें। वे बरसात के मौसिम में वहाँ ही रहे और मार्गशीर्ष में वहाँ से प्रस्थान कर पाली, मेड़ता, नागौर, बीकानेर, राणी, सिरसा आदि शहरों में होते हुए लाहौर पधारे। शाह बहुत सन्मानपूर्वक उनसे मिला और सविनय निवेदन किया कि यदि आप हमारी धर्मगोष्ठी में रहने की कृपा करें, तो बहुत अच्छा हो। आपको यहाँ आते समय जो कष्ट हुआ है, उसको मैं जैन धर्म की वृद्धि करके हटाऊँगा और मेरी धर्म-वृद्धि के लिये आप प्रति दिन एक बार दर्शन देने की कृपा करते रहें। शाह के आग्रह से पूज्य जिनचंद्र ने वहाँ एक वर्ष निवास किया और उनके प्रभाव से उसने आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में नवमी से लेकर सात दिन तक अहिंसा की आज्ञा दी। ग्यारहों सूबों में इसकी घोषणा करने के लिये फरमान लिखवाकर दिए। इस उदाहरण से अन्य देशाधीशों ने भी १५, २०, २५ दिन अथवा किसी ने महीने या दो महीने भर तक अहिंसा व्रत का प्रचार करा दिया। तदनंतर अकबर ने कश्मीर पर आक्रमण किया और कर्मचंद्र को अपने जनानों की रक्षा के लिये रोहितासपुर में छोड़ा। उस समय जैन मानसिंह बिना जूता पहने पर्वतों में शाह के साथ गया।

जिनविजय सूरि और अकबर।

इस धर्म-दृढ़ता से प्रसन्न हो शाह ने मछलियों को अभय दान दिया और लाहौर आकर जिनचंद्र को "युग-प्रधान" की उपाधि दी और मानसिंह का जिनसिंह सूरि नामकरण कर आचार्य पदवी दी और उसके उपलक्ष में स्तम्भतीर्थ के मगरों और मछलियों की एक वर्ष के लिये हिंसा बंद करवाई और लाहौर में भी प्रति वर्ष एक दिन जीव-रक्षा का विधान किया।

कर्मचंद्र ने वहाँ से रामसिंह के यहाँ आकर एक बड़ा भारी नंदि-महोत्सव किया जिसमें दूर दूर के श्रावक और श्राविकाएँ सम्मिलित हुईं और फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की जया (शुभ) तिथि द्वितीया को मध्याह्न के समय शुभ मुहूर्त में बड़े समारोह के साथ श्री जिनचंद्र सूरि के कर कमल से मानसिंह को आचार्य पदवी दिलाई; और जैसा कि अकबर ने पहले निर्देश किया था, उसका जिनसिंह सूरि नाम रखा। उस अवसर पर जिनचंद्र ने गणि जयसोम और रत्ननिधान पाठक को अनुचान और गुणविनय गणि को वाचनाचार्य की पदवी दी। कर्मचंद्र ने इस सुअवसर पर बहुत भारी दान दिए।

उपसंहार

जैसा कि पहले लिख आए हैं, यह ग्रन्थ कर्मचन्द के जीवनकाल ही में बन चुका था; अतः यह उनकी संपूर्ण जीवनी का विधायक तो नहीं है, परंतु जितना है, वह सामान्यतया जीवन के कर्मोद्युत काल का अवश्य परिघात कर लेता है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित एवं अज्ञात है। परन्तु केवल इसी बात ने हमको यह लेख लिखने के लिये प्रेरित नहीं किया है। हमारे पाठक हमसे सहमत होंगे कि कर्मचंद्र की जीवनी उन महत्वपूर्ण पुरुषों की जीवनियों में से है, जिन्होंने राज्य-सन्मान प्राप्त कर अपने धर्म के गौरव का विस्तार करने और अपने भाइयों को यथा संभव सुख पहुँचाने का यत्न करने में प्रसन्नता समझी।

इस वंश की वंशावली से, जो हमने इस ग्रंथ के आधार पर बनाई है, प्रतीत होगा कि सागर से भाग्यचंद्र तक १८ पुरुषों का इसमें समावेश है जिसका समय-विस्तार करीब ४०० वर्ष होता है। जयसोम मुख्य संतान की स्त्री का नाम भी लिख गया है। परंतु सिवाय इसके कि वह सुंदरी थी, जैनधर्म में अधिक रुचि रखती थी, अन्य कुछ भी उसके विषय में वर्णन नहीं किया है। न जाने कर्मचंद्र की स्त्री का नाम लिखना वह क्योंकर भूल गया।

अब अन्य ग्रंथादि से कर्मचंद्र की शेष जीवनी का जो पता लगता है, वह इस प्रकार है—

जनश्रुति में प्रसिद्ध है कि कर्मचंद्र की मित्रता अकबर से उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यहाँ तक कि ऐसे ऐसे अवसर आए जब वे दोनों बैठे बैठे देर तक शतरंज खेलने में लगे रहे और राजा रामसिंह को प्रतीक्षा करते हुए समीप खड़ा रहना पड़ा। राजा को अपने सेवक का इतना गौरवारूढ़ हो जाना बुरा लगने लगा और यों पारस्परिक मनोमालिन्य के अंकुरों की वृद्धि देख दूरदर्शी कर्मचंद्र ने अपने परिवार को बीकानेर से दिल्ली बुलवा लिया और वहीं रहने लगा।

जब शाहजादा सलीम नूरुद्दीन जहाँगीर की उपाधि धारण कर सिंहासनासीन हुआ, उस अवसर पर राजा रामसिंह दिल्ली गया और वहाँ पर अपने पुराने दीवान कर्मचंद्र की अस्वस्थता के समाचार सुने। वह स्वयं कर्मचंद्र के पास आया और उसे मृत्युशय्या पर पड़ा देख बहुत सहानुभूति प्रदर्शित करने लगा। यहाँ तक कि उसके नेत्रों से नीर बहने लगा। जब राजा चला गया, तब कर्मचंद्र के पुत्रों ने अपने पिता से राजा के प्रेम की बहुत प्रशंसा की। परंतु पिता ने कहा—बेटा, तुम भूल कर रहे हो। ये आँसू प्रेम के नहीं थे। वे तो इस बात के थे कि मैं सुख और सुयश से स्वर्ग सिधार रहा हूँ और वह राजा जीते जी मुझसे बदला नहीं ले सका। तुम कभी भूलकर

भी उसके कपट-प्रबंध में मत फँसना। तदनंतर कर्मचंद्र की जीवन-ज्योति तो निर्वाण को प्राप्त हुई; परंतु प्रतिकार-परायण राजा के हृदय की ज्वाला फिर भी ज्यों की त्यों प्रज्वलित रही। राजा रामसिंह के चार पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र दलपतिसिंह था। परंतु उनका अतीव प्रेम-भाजन दूसरा पुत्र सूरसिंह था। जब राजा के देहावसान का अवसर आन उपस्थित हुआ, तब सूरसिंह ने अपने पिता की अंतिम इच्छा जाननी चाही। इसका उत्तर राजा ने यही दिया कि राज्य के विद्रोही मात्र का सर्वनाश करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। इसी से मेरी आत्मा संतुष्ट होगी।

यद्यपि ज्येष्ठ होने के कारण दलपतिसिंह ही राज्य का उत्तराधिकारी था, परंतु अपने अनुज पर पिता का असीम स्नेह देख उसे अपने स्वत्व के सुरक्षित रहने में संदेह था। अतः वह कर्मचंद्र से अपना मेल-जोल बनाए रखता था और उसकी सहायता से राज्य पर प्रभाव डालने की चेष्टा करता रहता था। निदान रामसिंह के पश्चात् दलपति-सिंह ही राज्याभिषिक्त हुआ और बीकानेर में महोत्सव मना वह दिल्ली में जहाँगीर से मिलने गया। परंतु वहाँ थोड़े ही दिन ठहरकर शाह से लौटने की अनुमति लिए बिना ही वापस लौट आया। इस छोटी सी बात को आधार बना उसके विपक्षियों ने जहाँगीर की अ-प्रसन्नता उत्पन्न करा दी। उधर वापस लौट उसने अपने भाई सूरसिंह की जागीर पर भी अनुचित अधिकार कर लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली से सूरसिंह को सहायता मिली और दोनों भाइयों में युद्ध उपस्थित हुआ, जिसमें बड़ा भाई बंदी हो गया और छोटा भाई विजय प्राप्त कर राज्यारूढ़ हुआ।

तदनंतर सूरसिंह स्वयं दिल्ली गया और कर्मचंद्र की हवेली पर जा उनके पुत्रों को अत्यंत विश्वास दिला बीकानेर ले आया और मंत्री पद पर नियुक्त किया। चार महीने तक तो सब काम प्रसन्नतापूर्वक

चलता रहा; परंतु पीछे एक दिन राजकीय सिपाहियों ने सहसा इनकी हवेली घेर ली। उस घड़ी उन्हें अपने पिता की चेतावनी याद आई। परंतु अब क्या हो सकता था? उन्होंने भी अपने आश्रित ५०० वीरों के साथ सपराक्रम सामना किया, परंतु राज्य की बड़ी शक्ति के सामने सफलतापूर्वक स्थिर नहीं रह सके। उनका एक एक आदमी मार डाला गया। वच्छावत वंश बीकानेर में निःशेष हो गया। केवल एक गर्भवती स्त्री, जो अपने पीहर में थी, इस वंश की संतान-तंतु को स्थिर रख सकी। उस अंकुर से जो संतान वृद्धि हुई, वह उदयपुर में आबाद है। उदय-पुर में रहते समय भी कर्मचंद्र का वंश प्रसिद्ध ही हुआ। महता अगर जी ने महाराणा भीमसिंह जी की बड़ी सेवा की और मांडलगढ़ के किले तथा जिले को झाला जालिमसिंह के हाथ में जाने से बचाकर बड़ी नामवरी पाई। उसी वंश में महता पन्नालाल जी हुए जो महाराणा शंभुसिंह जी, सज्जनसिंह जी एवं वर्तमान महाराणा फतहसिंह जी के मुख्य मंत्री रहे और राजा एवं प्रजा के प्रीति-पात्र बने। उनकी कार्य-दक्षता, सौजन्य आदि गुणों से प्रसन्न होकर अंगरेजी सरकार ने उनको राय बहादुर तथा सी० आई० ई० की उपाधियों से भूषित किया। अब भी उनके पौत्र तथा अन्य कुटुम्बी उक्त राज्य के जिलों के हाकिम आदि उच्च पदों पर नियुक्त हैं।

राणा साँगा।

(१९) महाराणा साँगा या संग्रामसिंह जी

[लेखक—श्रीयुक्त बाबू रामनारायण दूगड़, उदयपुर]

यदि हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की ओर दृष्टि दें, तो प्रत्यक्ष होता है कि मौर्य्य-वंशी महाराजाधिराज अशोक भारत का अंतिम चक्रवर्ती राजा हुआ था, जिसने अपने दादा चंद्रगुप्त मौर्य्य की प्राप्त की हुई राजलक्ष्मी में यहाँ तक वृद्धि की कि उत्तर में हिमालय पर्वतराज से लेकर दक्षिण में सिंहलद्वीप तक और पूर्व-पश्चिम महासागर के मध्य के बहुधा सारे प्रायःद्वीप को अपनी छत्र-छाया तले ले लिया। इतना ही नहीं, किंतु मिस्र, यूनान, बलख, बुखारा आदि के बड़े बड़े महाराज उसकी मैत्री के इच्छुक रहते और अपने एलची उसके दरबार में रखते थे। यद्यपि उस समय भी भारत में भिन्न भिन्न जातियों और व्यक्तियों के अनेक छोटे बड़े राज्य थे, परंतु वे सब किसी न किसी रूप में मौर्य्यवंशी महाराज की महत्ता को शिरोधार्य रखते थे, और उसके प्रखर प्रताप-रूपी मार्तण्ड के तप-तेज के आश्रय ही से अपनी सत्ता का भोग करते थे। एशियाई एक-राज-सत्ता पद्धति के लिये अशोक के विशाल महाराज्य का बृहत् कलेवर चिर काल तक स्थिर न रह सका। महाराज के मरते ही उसकी संतान में राज-प्रलोभना से परस्पर वैर तथा वैमनस्य फैल जाने के कारण उसकी सन्धियाँ ढीली होकर शीघ्र ही उसका अस्तित्व मिट गया। यद्यपि उस समय के पूर्व भी अन्य देशियों के आक्रमण अभागे भारत पर होने लग गए थे, परंतु प्रतापी मौर्य्य वंश ने विदेशी राजा महाराजाओं की कमर तोड़कर उनको यहाँ से उच्छिन्न-प्राय कर दिया और भारत के गुण-गौरव की यहाँ तक वृद्धि हुई कि पीछे भी कई शताब्दियों तक जो विदेशी जातियाँ यहाँ आईं, उन्होंने इस देश की रीति-भाँति, धर्म-कर्म

और ज्ञान-विज्ञान का अनुकरण कर भारत की सभ्यता के आगे सिर झुकाया।

मौर्य्यों का बल टूटने पर यह देश फिर कई स्वतंत्र विभागों में विभक्त हो गया, जिनमें परस्पर के लड़ाई-झगड़े निरन्तर चला करते थे। इससे शक कुशानादि जातियों ने आकर अपना अधिकार सुगमता के साथ जमा लिया। फिर यद्यपि गुप्त-वंशी महाराजाओं ने थोड़े समय तक अपना साम्राज्य स्थापन किया, परंतु तातारी हूणों ने आकर उनका राजतंत्र तोड़ डाला। इसके उपरान्त सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वैस-वंशी राजा हर्षवर्धन ने उत्तर हिन्दुस्तान में साम्राज्य का स्थापन किया। परंतु दक्षिण देश के राजा पुलकेशी से उसे हार खानी पड़ी; और यह उसी हानिकारक राज-व्यवस्था का प्रभाव था कि श्रीहर्ष का शरीरांत होते ही उसका महाराज्य भी छिन्न भिन्न हो गया। तत्पश्चात् पंजाब, सिन्धु, मालवा, गुजरात, मध्य हिन्दुस्तान आदि के जुदा जुदा स्वतंत्र राजा महाराज इस मानवगण रूपी महासागर में दीर्घकाय मच्छों की भाँति परस्पर मल्ल-युद्ध कर उसके जल को गँदला करते और छोटे राज्यों के भक्षण करने वा सताने ही में अपना अभिमान व अहंकार प्रकट करते रहे। सारांश यह कि ऐसे स्वेच्छाचारी राज्यों में सामन्तगण भी समय पाकर अपने स्वामियों के गले घोंट स्वयं उनके राज्य के अधिपति बन बैठते थे। निरंकुश राजसत्ता के लोभ से ऐसी आसुरी लीलाओं के अनेकानेक उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं कि पिता ने पुत्रों की, पुत्रों ने पिता की, भाई ने भाई की, विशेष कहाँ तक कहें, अपनी माता व भगिनियों और दुधमुँहे नन्हे निरपराध बालकों और वृद्धों की हत्या करने में तनिक भी संकोच नहीं किया।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबिस्तान में एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने अपने को ईश्वरी दूत बतलाकर अपने उपदेशों द्वारा कई अरब-निवासियों को एकेश्वर-वादी बनाकर अपने मत में

मिलाया और अहले इस्लाम के नाम से एक प्रबल दल संघटित कर लिया। उसने धर्म के साथ राजनीतिक क्रियाओं का भी मेल किया और विधर्मियों को काफिर कहकर या तो किसी प्रकार से उनको स्वमतानुयायी बनाने या नाश कर देने ही से ईश्वरी आज्ञा पालन होने का गूढ़ सिद्धान्त अपने अनुगामियों के हृदय-पटल पर दृढ़ता के साथ अंकित कर दिया और इसी को स्वर्ग की श्रेणी और मोक्ष का राजमार्ग बतलाया। हज़रत पैग़म्बर साहब के स्वर्गवास के उपरान्त उनकी सन्तान इस धर्म के सर्वोच्च पद पर नियुक्त होकर 'खलीफा' कहलाने लगी। एक जाति और एक धर्मवालों के कट्टर दल के स्वामी हो जाने से पहले तो इन खलीफाओं ने निकटवर्ती प्रदेशों को अधीन कर वहाँ की प्रजा को मुसलमान बनाया; और फिर शनैः शनैः अपने संघ को दूर दूर के देशों में भी फैलाया। जब उन्होंने देखा कि भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों और एक दूसरे के विरोधी अनेकानेक राज्यों के कारण भारत की शक्तियों का ह्रास हो रहा है, फूट का वहाँ अटूट शासन है और हिन्दू जाति में भीम-दुःशासन सा मनोमालिन्य है, तो इस अवस्था में उस रत्नों की खान, निधि के स्थान और धनधान्य-पूर्ण कामधेनु को ले लेना कुछ कठिन न होगा। यह विचार उन्होंने अपनी बाग भारत की ओर उठाई। स्वयं कोई खलीफा तो अपनी गद्दी छोड़कर देशान्तर में नहीं गया, परंतु खलीफा वलीद के सेनापति मुहम्मद कासिम का अर्बों के दल सहित पहले पहल भारत में कदम पड़ा। सिंध देश के राजा दाहिर को जो ब्राह्मण वर्ण का था, आ दबाया। कितने ही अर्बों ने समय पाकर आठवीं शताब्दी में सौराष्ट्र के अंतर्गत वल्लभीपुर के महाराज्य को मलिया मेट किया और अन्यान्य विभागों में भी धूम मचाते हुए वे दूर दूर तक फैल गए।

जब सारा अफगानिस्तान मुहम्मद मतावलम्बी हो गया और मध्य एशिया की कई जातियों ने भी यह मत ग्रहण किया, उस

समय भारत में पंजाब के उत्तरी विभाग में दिल्ली के तँवर राजपूतों का राज्य था। अमीर सुबुक्तगीन ने लाहौर के राजा जयपाल को युद्ध में परास्त किया। तत्पश्चात् सुबुक्तगीन के पुत्र सुलतान महमूद गज़-नवी ने भारत पर आक्रमण करने का व्रत लिया। प्रथम मुठभेड़ राजा जयपाल के पुत्र अनंगपाल से हुई। यह पहला अवसर था कि भारत-वर्ष के अन्यान्य प्रांतों के नृपतिगण अपनी सेना सहित अपने देश और धर्म की रक्षा के निमित्त अनंगपाल की सहायता को आए। तँवर-राज एक प्रबल दल लेकर महमूद के सम्मुख हुआ; परंतु एक आकस्मिक घटना के कारण क्षत्रिय सैन्य विजय-लाभ से विमुख रह गई। घटना यह थी कि दैवात् अनंगपाल की सवारी का हाथी भड़ककर भाग निकला। बस फिर क्या था। अपने सेनानायक को भागा जान सारी सेना ने रण क्षेत्र से मुँह मोड़ दिया और महमूद को सहज ही में विजय-लक्ष्मी ने वर-माला पहना दी। क्रूर अफगानों ने हजारों के खून से अपनी तलवारें रँगीं; और इस युद्ध से उन विदेशियों और विधर्मियों की हिंदुओं के हृदय में धाक सी जम गई। सुलतान महमूद बारह चढ़ाइयाँ कर काशी और कन्नौज तक अपनी विजय का डंका बजाता और प्रताप की पताका फहराता चला गया। उसने भारत के द्रव्य से गज़नी का भण्डार भर दिया, कई नामी नगरों को लूटा, अनेक देवमंदिर तोड़े, लाखों मनुष्यों के मस्तक छेदे और हजारों को पकड़कर लौंडी-गुलाम बना स्वदेश में ले गया। अस्तु।

माना कि सुलतान महमूद और उससे पूर्व होनेवाले मुसलमान सुलतान आदि ने इस आर्य्य भूमि में अनेक उत्पात मचाए, परन्तु उन्होंने अपना राज्य यहाँ स्थिरता के साथ जमाया नहीं। संभव है कि भारतीय क्षत्रिय राणा बार बार के ऐसे आक्रमणों से निरे निर्वीर्य्य न हो गए हों, बल्कि अवसर पर शत्रु को हाथ दिखाने और खदेड़ते रहने के अभ्यासी भी हो गए हों, और इसी से सुलतान महमूद और उसको

आक्रमणकारी संतान को यहाँ अपना राज्य स्थिर कर लेने की हिम्मत और हौसला न हुआ हो। वे आते और लूट मार करके लौट जाते थे। अलबत्ता पंजाब प्रांत के कुछ विभाग पर उनका अधिकार हो गया था। यहाँ तक तो सिंध, मुलतान, मालवा, राजस्थान, गुर्जर, सौराष्ट्र, मध्य हिंदुस्तान, काशी, कन्नौज, बंगाल आदि और दक्खिन के महाराष्ट्र पर राजपूत राजा ही शासन करते थे। इनके अतिरिक्त जाट, मेर, गूजर, भील आदि कई असभ्य जातियों की सत्ता भी मरुस्थल और पर्वती प्रदेशों में बनी थी। ग़ज़नी के तख्त को उलटकर गोरी वंश ने अपनी राजधानी स्थापित की और उसी घराने के सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेने की नीयत से चढ़ाइयाँ कीं। उस समय राजपूताने में और पंजाब के कई विभागों तक चहुवाण वंशी महाराज पृथ्वीराज की विजय-पताका फहरा रही थी; और दिल्ली का राज्य, जिसे पृथ्वीराज के प्रपितामह महाराज वीसलदेव या विग्रह-राज ने तँवरों से छीन लिया था, उनके राज्य का एक इलाका था। इसी वीसलदेव ने तुर्क सेनाओं के साथ भी अनेक युद्ध किए थे; और अपने अन्तिम काल में अपने पुत्रों को भी उन्होंने यही आज्ञा देकर सं० १२२० वि० में शरीर त्यागा था कि "हिमालय से विंध्याचल तक का देश तो विजय कर मैंने आर्य्यावर्त्त के लगभग सभी म्लेच्छों का विच्छेद किया। शेष देश को जय करने का उद्योग तुम मत छोड़ना!"*

सुलतान शहाबुद्दीन कई बार चढ़ आया, परंतु पृथ्वीराज से बराबर पराजित होकर उसे लौटना पड़ा था। अंत में सं० १२४८ वि० में उसने असंख्य दल जोड़कर बहुत धूम-धाम के साथ चहुवाण-राज पर चढ़ाई की। सुलतान शहाबुद्दीन के साथ के पहले युद्ध में भी उसकी बहुत सी सेना और सामंतों की क्षति हो गई थी; इसलिये इस दूसरे युद्ध में

* दिल्ली की लाट पर का वीसलदेव चहुवाण का लेख सं० १२२० वैशाख सुदी १५ का।

मुलतान की जीत हुई। यह दूसरा अवसर था कि भारत के भिन्न भिन्न नरेश पृथ्वीराज के सहायतार्थ युद्ध में सम्मिलित हुए थे। यदि उस समय अन्यान्य अनेक नृपतियों की तरह जयचंद भी पृथ्वीराज का साथ देता और तटस्थ रहकर तमाशा न देखता, तो मुसलमानों का क़दम शायद भारत में न जमने पाता। परंतु "कर्म रेख नहिं मिटै करै कोई लाखों चतुराई"। अंत में शहाबुद्दीन ने जयचंद की भी वही गति बनाई जो पृथ्वीराज की हुई थी। यहाँ से भारत में मुसलमानों के राज्य का पैर जमा; और शनैः शनैः अन्यान्य क्षत्रिय नरेश भी उनके शिकार बने और उनके राज्य विधर्मी विदेशियों के हस्तगत होते गए।

अब मैं अपने चरित्र-नायक के वर्णन पर आता हूँ। परंतु इसके पूर्व गुहिल वंश के कुछ महाराणाओं का थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र पाठकों को करा देना अनुचित नहीं। विक्रम की सातवीं शताब्दी में मुसलमानों का इधर आगमन हुआ था। तब से क्या, उसके पूर्व भी लगभग १३०० वर्ष व्यतीत हुए कि जिसमें कई राज्य बने और बिगड़ गए। कई नवीन राजवंशों में स्थानादि त्यागने और स्थापन करने की अनेक घटनाएँ उपस्थित हुईं। परंतु पृथ्वी भर में जहाँ तक देखा जाय, उदयपुर के महाराणाओं का ही एक राजवंश है जो आज तक अपने प्राचीन प्रदेश पर लगभग १९५० वर्ष से निरंतर शासन कर रहा है। मुसलमान इतिहास-लेखक भी इसकी साक्षी देते हैं। फरिश्ता लिखता है कि राजा विक्रमादित्य के पीछे राजपूतों की उन्नति हुई है। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने से पहले कई स्वतंत्र राजपूत राज्य इस देश में थे। परंतु सुलतान महमूद ग़ज़नवी और उसकी औलाद ने बहुतों को दबा दिया। शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर और देहली के राजाओं को जीता; और बाकी रहे सहे को अमीर तैमूर वनुस की औलाद ने ताबे कर अपना फर्माबर्दार बनाया। यहाँ तक कि जहाँगीर बादशाह के जमाने तक विक्रम के समय का कोई पुराना राजवंश बाकी न रहा। लेकिन राणा

ही एक राजा हैं जो दीन इसलाम के जाहिर होने के पेश्तर भी मौजूद थे और आज तक हुक्मरानी करते हैं।" बाबर बादशाह ने राणा की बुजुर्गी को स्वीकारा और शाहंशाह जहाँगीर भी तुजुके जहाँगीरी में लिखता है—"राणा अमरसिंह हिन्दुस्तान के मोतबिर जमींदारों में से है। उसके व उसके बुजुर्गों के बड़प्पन और सर्दारी को वलायत हिन्द के तमाम राजा व राय क़बूल करते हैं। दीर्घ काल से उनके वंश में दौलत और रियासत चली आती है। १४७१ वर्ष गुजरते हैं, जिनमें से १००२ वर्ष में २६ रावल पदवी धारण करनेवाले और राणा अमरसिंह तक ४६९ वर्ष में २६ राणा हुए। इस मुद्दत में उन्होंने वलायत हिन्द के किसी बादशाह की इताअत में सिर न झुकाया और बराबर लड़ाई झगड़ा करते रहे; आदि।" इससे इतना तो स्पष्ट है कि राजपूताने में गुहिल वंश का राज्य स्थापित होने के आरंभ काल ही से उनकी नीति-रीति सदा से अपने सामन्त गण व प्रजा के लिये हितकारी बनी रही। आर्य क्षत्रिय महाराजाओं के पथ में अटल रहकर उन्होंने अपने वास्तविक धर्म से पग पीछे न हटाया, जैसा कि उनके राज-चिह्न पर अङ्कित रहनेवाले सिद्धान्त से स्पष्ट है "जो दृढ़ रक्खे धर्म को तेहि रक्खे कर्त्तार"। यही कारण था कि गुहिल वंश की अपार शाखाओं ने राजस्थान के बड़े विभाग पर अधिकार जमाया और शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र-तुल्य उनका प्रताप प्रति दिन बढ़ता रहा। उनकी ऋद्धि-वृद्धि को देखकर दूसरे कई नरपतियों के आक्रमण भी उन पर हुए; परंतु अंत में विजय धर्म ही की रही। मौर्य्य उनसे पराजित हुए। अजमेर, नाडोल और जालोर के चहुवाणों को उन्होंने उनकी धृष्टता का स्वाद चखाया। गुजरात के सोलंकी और बाघेलों से चित्तौड़गढ़ उन्होंने छीना; और धार तथा आबू के परमार भी उनसे बाजी न ले जा सके। महारावल समरसिंह और उनके पूर्व के कई गुहिल राजाओं ने मुसलमानों की सेनाओं से भी अनेक युद्ध किए, जिसकी पुष्टि इस वंश के प्राचीन शिलालेखों से होती है।

महारावल समरसिंह के पुत्र महारावल रत्नसिंह के शासनकाल, सं० १३५० वि० में देहली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी खूनी बादशाह की चढ़ाई चित्तौड़ पर हुई जिसका कारण रानी पद्मिनी का सौन्दर्य बतलाया जाता है। परंतु वास्तव में यदि फरिश्ता के इस कथन की ओर ध्यान दें कि चित्तौड़गढ़ उस वक्त तक एक कुँवारी कन्या के समान था, जिस पर पहले किसी मुसलमान बादशाह का हाथ न पड़ा था, तो आश्चर्य नहीं कि सुलतान ने ऐसे गढ़ को विजय करने में नामवरी समझ उस पर हमला किया हो। महारावल रत्नसिंह ने भी अलाउद्दीन का सत्कार बड़ी वीरता के साथ किया। सीसोदे से राणा शाखा का लखमसी भी इस युद्ध में अपने स्वामी का हाथ बटाने के वास्ते अपने सात पुत्रों सहित आया और सब ने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के हेतु अपने प्यारे प्राण निछावर कर दिए। सहस्रों शत्रुओं को अपने कराल कृपाण से काटकर चित्तौड़ की अधिष्ठातृ देवी को तृप्त किया और आप भी वीर गति को प्राप्त हुए। हजारों सुकुमार राज-रमणियों ने अपने कोमल तनों को जौहर की धधकती हुई ज्वाला में भस्म कर अपने सतीत्व की रक्षा की। तारीख फीरोजशाही में लिखा है कि बरसात के मौसिम में युद्ध जारी रखने के कारण सुलतान अलाउद्दीन की सेना का बहुत नुकसान हुआ। महारावल रत्नसिंह के साथ महती रावल शाखा की समाप्ति होने और सीसोदे की शाखावालों के चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर बैठने से फिर वहाँ के नरेश रावल के बदले राणा उपाधि से विभूषित हुए। अपना वंश स्थिर रखने को राणा लखमसी ने अपने एक कुँवर अरिसिंह को गढ़ से बाहर भेज दिया था, जिसने एक राजपूत वीराङ्गना से विवाह कर पिता की आज्ञा का पालन और सफल मनोरथ होने पर वापस आकर राणा अरिसिंह भी शत्रु से युद्ध करता हुआ खेत हुआ। चित्तौड़ की हुकूमत सुलतान ने पहले तो अपने युवराज खिज़र खाँ को दी थी; परंतु जब देखा कि उससे राजपूतों का उपद्रव शान्त

नहीं हो सकता, तो जालोर के सोनगिरे चहुवाण राव कान्हड़देव के भाई रावन्तल देव को वहाँ का शासन-भार सौंपा।

जिस राजपूत कन्या के साथ राणा अरिसिंह ने विवाह किया था, उसके उदर से वीर हमीर ने जन्म लिया। सयाने होने पर जब हमीर को जान पड़ा कि मैं क्षत्रियकुल-चूड़ामणि चित्तौड़ के स्वामी का वंशधर हूँ और मेरी पैतृक भूमि पर तुर्कों का अधिकार है, तो बालक होते हुए भी सीसोदिया वंश का स्वाभाविक शौर्य्य-संपन्न रुधिर उसकी रगों में खौलने लगा। उसने राव मालदेव के शासन में उपद्रव मचाना आरंभ किया और अपने पिता के परम शत्रु मुञ्जा बालेचा को भी मारकर उसका सिर काट लाया। राव मालदेव ने लाचार अपनी कन्या का विवाह हमीर के साथ कर उसे शांत करने की युक्ति निकाली। उसी रानी ने अपने पति को चित्तौड़गढ़ पर पुनः अधिकार कर लेने के उपाय बतलाए। राव मालदेव का देहांत होने पर वीर हमीर ने अपने चुने हुए राजपूतों को साथ ले चित्तौड़गढ़ पर धावा कर दिया और विपक्षियों को काटकर अपना झंडा वहाँ उड़ाया। कर्नल टाड लिखता है कि राव मालदेव भागकर दिल्ली में मुहम्मद शाह तुग़लक़ के पास गया। बादशाह सेना सजाकर आया। उसका पुत्र सीगोल नामक स्थान में राणा हमीर से युद्ध में हारकर कैद हो गया और कई परगने तथा दूसरे दण्ड देकर छूटा। कुछ भी हो, परंतु हमीर के प्रताप का सूर्य्य चमका। आस पास के नरेशों को विजय कर उसने दूर दूर तक अपनी पताका जा उड़ाई।

सं० १४२१ वि० में वीर हमीर का स्वर्गवास होने पर उनके पुत्र राणा क्षेत्रसिंह ने राज-सिंहासन की शोभा बढ़ाई। दिल्ली में उस समय तुग़लक़ खान्दान तख्त पर था। मुहम्मद तुग़लक़ की शरह की अनीतियों और क्रूरतापूर्ण कार्यवाहियों से बादशाहत में कई उपद्रव उठ खड़े हुए थे। बड़े बड़े सूबे स्वतंत्र बन बैठे। जौनपुर, मालवा और गुजरात में

जुदा सलतनतें स्थापन हो गईं; और इसी अर्से में अमीर तैमूर ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर महमूद शाह का मान मर्दन कर डाला। दिल्ली नगर को लूटकर वहाँ क़तले आम करके लाखों प्रजा के प्राण हरण किए, और करोड़ों का माल ले गया। अवसर पाकर महाराणा चेत्रसिंह ने भी अमी शाह (मालवे का सुलतान दिलावर खाँ गोरी) का मद गंजन किया और दिल्ली के कई नगर लूटकर अपने राज्य में वृद्धि की। अमी शाह के युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन कवित्त भी मिलता है:—

"जो दल पंच जोजन्न, प्रमाण मेलाण पड़ंतो।"
"जु दल नदी निझ्झरण, पूर क्षण माँह पियंतो॥"
"जु दल राय मण्डल्ल, गयो गाहंतो गिरवर।"
"जु दल तणी रजखेह, उड़ै छायो रव अम्बर॥"
"एतलो कटक अमी शाह को, खेतल भंजे खाग बल।"
"अई बेग बलतो दीठ मैं, रह तरोवर एक तल॥"

भावार्थ—अमी शाह के असंख्य दल को चेत्रसिंह ने खड्ग बल से दलमलित किया, और वह इतना सा रह गया कि एक वृक्ष की छाया में ठहर सके।

महाराणा चेत्रसिंह के पुत्र महाराणा लक्षसिंह या लाखाजी ने भी मेदपाट के प्रताप-रूपी प्रभाकर को अधिकाधिक चमकाकर मुसलमान बादशाहों से कई युद्ध किए और अंत में गया तीर्थ को असुरों के अत्याचार से बचाने और हिंदुओं पर वहाँ लगने वाले कर को छुड़ाने के वास्ते तीर्थस्थान में अपने प्राणों की आहुति दी।

लाखाजी के पुत्र महाराणा मोकलजी भी पुरुषार्थ और पराक्रम में अपने पुरुषाओं से न्यून न हुए। उनके सैन्य बल से गुजरात और मालवे के सुलतान सदा भयभीत रहते। उसने नागोर के फीरोज़ खाँ से युद्ध कर उसकी पीठ पर अपनी विजय मुद्रिका अङ्कित की और अपने ३६ वर्ष के राज-समय में सीसोद वंश की निर्मल कीर्ति दूर दूर तक फैला दी। अंत में कर में कृपाण धारण किए रणक्षेत्र रूपी ताल में स्नान कर

सूर्य्यमण्डल को वेध महाराणा मोकल ने कैलास वास किया। फीरोज खाँ आदि से युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन छप्पय यों है:—

"श्री मोकल महाराण हुए ईसर अवतारी ॥"
"जेण तणै सर गङ्ग, आप सुरसरी पधारी।"
सबल साह पीरोज, माण गाल्यो धर मच्छर ॥"
"मरु मालव मेवात, अवर लींधी धर गुज्जर।"
"खगपत राण खेताहरे, श्रीलखपत नरपत्त सुअ ॥"
"नवखण्ड माँह, दीठोन को, मोकल सम बड़ अवर भुअ।"

महाराणा मोकलजी के पुत्र वीर-शिरोमणि महाराणा कुम्भा जी ने तो मेदपाट के महाराज्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया, और अपने ३५ वर्ष के राज-समय में धर्म तथा देश की रक्षा के निमित्त देहली, मालवा और गुजरात के मुसलमानों से बराबर लड़ाइयाँ करते और बल कल द्वारा अरि दल का विध्वंस कर अपने प्रताप को बढ़ाते रहे। राजपूताने में तो क्या, वरन् सारे उत्तरी हिंदुस्तान में उस वक्त कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नहीं था जो मेवाड़ की बढ़ी चढ़ी शक्ति के आगे मान-पूर्वक नत-मस्तक न होता हो। उपर्युक्त मुसलमान सुलतान उनका लोहा मान गए थे। उनकी वीरतापूर्ण कार्यवाहियों के सविस्तर वर्णन से हिंदी और फारसी के इतिहास रँगे पड़े हैं। यहाँ तो केवल इतना ही प्रकट कर देना यथेष्ट है कि सैंकड़ों वर्षों तक निरन्तर पठान बादशाहों और तातारियों से देश व धर्म की रक्षा के हेतु युद्ध कर रणांगण में प्राय: शत्रुओं का विध्वंस करने या अपने प्राण निछावर कर देने में अन्य कोई क्षत्रिय राजवंश सीसोदियों की समानता नहीं कर सकता। महाराणा कुम्भा जी शिल्प, साहित्य और संगीत शास्त्र के ज्ञाता और पूर्ण आश्रय-दाता थे। उनके निर्माण कराए हुए अनेक दुर्ग, देवालय और चित्रकूट पर एक गगन-चुम्बित कीर्तिस्तम्भ, और संस्कृत भाषा में रचे हुए ग्रंथ उनके उज्वल यश के अपूर्व स्मारक आज तक विद्यमान हैं। शोक कि

ऐसे शूरवीर, पुरुषार्थी और विद्यानुरागी पिता के प्राण उनके ज्येष्ठ पुत्र उदयकर्ण ने राज्य के लोभ से लेकर अपने मस्तक पर अमिट कलंक का टीका लगाया। परंतु वह भी सुख से पाँच वर्ष भी राज्य न करने पाया कि सामन्त गणों ने उसके भाई रायमल को गद्दी पर ला बैठाया। *

महाराणा रायमल ने भी दिल्ली की बादशाहत के कई नगर लूटे, बादशाही पूतना को पराजित कर भगाया और सिंध देश को मन्दराचल की नाईं मथा। उदयकर्ण के पुत्र सूरजमल व सहसमल की सहायता से मालवे का सुलतान गयासुद्दीन खिलजी चितौड़ पर चढ़ आया था; परंतु रायमलजी के सम्मुख उसे पीठ दिखानी पड़ी। अपने पराजय से लज्जित गयास ने बड़ी बड़ी तैयारियों के साथ नामी सेनानायक जफर खाँ की अध्यक्षता में फिर मेवाड़ पर दल बादल उजटाए। बेगूँ के राव बहाडा चाचक देव ने जफर की अनीतियों के समाचार महाराणा तक पहुँचाए कि उसने कोटा, भैंसरोड़ और शिवपुर के परगनों पर अधिकार कर लिया है। यह संवाद सुनते ही कई नरपतियों को साथ ले कुपित केसरी की भाँति महाराणा जफर पर चढ़ आए, उसके नामी नामी शूर सामंतों के मस्तक काट धूल में मिलाए और पद-दलित हो जफर माँडू की तरफ भागा। खैराबाद (माँडू के पास) तक महाराणा उसका पीछा करते चले गए। अंत में निराश होकर सुलतान ने नजर नजराना देकर संधि कर ली। इस युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन गीत यह है:—

* कर्नल टाड तो लिखता है कि ऊदा जब चित्तौड़ से निकाला गया तो मालवे के सुलतान के पास सहायता को गया। परंतु दर्गाह में से निकलते ही उस पर वज्रपात हुआ और वह वहीं मर गया। मोहणोत नैणसी कहता है कि जब रायमल ने ऊदा को चित्तौड़ से निकाला, तो वह कुछ काल तक सोझत में ठहरकर बीकानेर की तरफ चला गया और वहीं मरा।

"रायाँगुर रायमल्ल खान जाफर निरमूलण ।"
"रायाँगुर रायमल्ल सबल रायाँ उर सूलण ॥"
"रायाँगुर रायमल्ल गाम सोमी जुध कीधा ।"
"रायाँगुर रायमल्ल शत्रु मारे जस लीधा ॥"
"रायमल्ल राणरायाँ तिलक, त्रिहुँ जग में कीरत फिरैं ।"
अणभाँत सुकव कीरत कहै, रायमल्ल रायाँ सिरैं ॥" *

महाराणा रायमलजी ने ११ विवाह किए थे जिनसे १४ पुत्र और दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं । पुत्रों के नाम—पृथ्वीराज, जयमल, सग्रामसिंह या साँगा जी, कल्याणमल, फत्ता जी, रायसिंह, भवानीदास, किशुनदास, नारायणदास, शङ्करदास, देवीदास, सुंदरदास, ईसरदास और वेणीदास थे और कन्याएँ दामोदर कुँवर तथा आनंद कुँवर† थीं । पृथ्वीराज और साँगा जी की माता झाली राणी रत्न कुँवर झाला राजघर की पुत्री थी । पाटवी कुँवर पृथ्वीराज प्रकृति का वीर, स्वभाव का तेज, युद्ध-प्रिय, निर्भय और पुरुषार्थी था । कोई काम उसके लिये दुष्कर नहीं था । प्राणों की परवाह न करके उसने ऐसे ऐसे शौर्य्य के काम इतनी शीघ्रता के साथ कर दिखाए कि जिनसे राजपूताने भर में वह "उड़णा पृथ्वीराज" प्रसिद्ध हो गया । अतएव यहाँ उसकी कुछ कार्यवाहियों का वर्णन करना अनुचित न होगा ।

महाराणा रायमल के पीछे पृथ्वीराज के अतिरिक्त जयमल और साँगा को भी चित्तौड़ के राजसिंहासन की अभिलाषा थी । एक दिन तीनों भाई अपने काका सूरजमल सहित वन-विहार करते हुए नाहर मगरे में एक देवी के मंदिर के पास जा निकले । राजपूत प्रायः शकुन और

* इस युद्ध का वर्णन एक लिङ्ग जी के मंदिर की महाराणा रायमल जी की प्रशस्ति में भी है । (भावनगर इंस्क्रिपशन्स, पृष्ठ १२१)

† हरविलास जी शारदा ने अपनी अँग्रेजी पुस्तक "महाराना साँगा" में आनंद कुँवर की जगह हर कुँवर नाम दिया है ।

जादू टोने पर विश्वास रखते हैं। तदनुसार पृथ्वीराज बोला कि चलो, हम लोग देवी के सन्मुख चलकर चिट्ठियों द्वारा निश्चय करें कि राज्य किसके भाग्य में लिखा है। चारों के नाम की चिट्ठियाँ डालीं तो राजा की चिट्ठी साँगा के नाम के साथ आई। बस फिर क्या था। गद्दी के हक और प्रभुता के प्रलोभन से भातृ-स्नेह हवा हो गया। तत्काल खड्ग खांचकर पृथ्वीराज साँगा पर टूट पड़ा। यद्यपि साँगा भी वीरता में उससे न्यून न था, तो भी ज्येष्ठ भ्राता के मान और अपनी स्वाभाविक सहन-शीलता ने उसको भाई के संमुख न होने दिया। यह घटना देख सूरजमल तुरंत बीच में आ पड़ा और साँगा को वहाँ से हटाकर पृथ्वीराज के प्रहार अपने तन पर झेलने लगा। इस आक्रमण में साँगा को पाँच घाव लगे और उसकी एक आँख भी जाती रही। सूरजमल और पृथ्वीराज दोनों जब तक घावों से पूर्ण होकर शिथिल न हुए, तब तक लड़ते रहे। अवसर पा साँगा ने चारभुजा का मार्ग पकड़ा; परंतु दूसरा भाई जयमल उसके पीछे लगा चला गया। राठौड़ बीदा जैत मालोत रूपनारायण के दर्शनार्थ आया था और लौटने के लिये वह सेवंतरी गाँव में सजा सजाया तैयार खड़ा था और उसका घोड़ा भी कसा हुआ था, कि उसने घायल साँगा को आते हुए देखा, जिसका घोड़ा मारे थकावट के कठिनता से चल सकता था। बीदा ने सच्चे क्षत्रिय धर्म का पालन कर साँगा को घोड़े से उतारा और उसका सत्कार शुश्रूषा करने के लिये अपने डेरे में ले ही गया था कि जयमल अपने राजपूतों सहित आ पहुँचा और साँगा को माँगने लगा। बीदा की रजपूती ने अतिथि को शत्रु के हाथ में सौंप देने की अपेक्षा अपने प्राण देकर उसे बचा लेना उत्तम समझ साँगा को तो अपने घोड़े पर चढ़ा आगे को रवाना किया और स्वयं जयमल के सन्मुख आकर कहने लगा—"साँगा मेरे पेट में है। यदि हिम्मत हो तो निकाल लो।" जयमल और बीदा में चोटें चलने लगीं, और बीदा अपने दो पुत्रों

सहित वीरगति को प्राप्त होकर क्षत्रिय धर्म का एक उत्कृष्ट उदाहरण संसार और अपनी संतान के वास्ते छोड़ गया ।

इधर जब महाराणा रायमल जी ने अपने कुमारों के झगड़े और साँगा के घायल होकर चले जाने का वृत्तान्त सुना, तो बहुत खेदित होकर उन्होंने पृथ्वीराज का दर्बार बंद किया, और उसे चित्तोड़ से दूर चले जाने की आज्ञा दी। जरसा, सिंधल, संगम, अभा, अन्ना आदि राजपूतों सहित पृथ्वीराज गोडवाड़ को चला गया। यद्यपि वह प्रांत पहले ही से मेदपाट के महिपालों के अधिकार में था, तथापि उदयकर्ण के अल्प-कालिक राज्य की अवस्था में वहाँ के मोणे सिर उठाकर स्वतंत्र से बन बैठे थे। और यों तो कई छोटी छोटी ठकुराइयाँ वहाँ हो गई थीं, परंतु उनका मुखिया नाडलाई में दर्बार रखता था। पृथ्वीराज ने ओझा नाम के एक ओसवाल व्यापारी के पास अपनी हीरे की अँगूठी गिरवी रखकर कुछ रुपए लिए थे। वही अँगूठी उस सेठ ने चित्तोड़ में पृथ्वीराज के हाथ बेची थी, जिससे उसने जान लिया कि यह महाराणा का टिकैत कुँवर है। और साथ ही मीणों का उपद्रव शमन करने की उसकी इच्छा जान तन मन धन से कँवर की सहायता करने लगा। पृथ्वीराज ने अपनी वीरता और क्रिया-कुशलता से मीणों को मार भगाया और थोड़े ही समय पीछे शांति स्थापित कर दी और ओझा को अपना मंत्री बनाकर आप शासन करने लगा। *

उस वक्त देसूरी पर मादरेचे चहुवाणों का अधिकार था। सिरोही के राव लाखा ने 'लास' के एक स्वतंत्र सोलंकी ठाकुर भोजराज से उसका ठिकाना छीनना चाहा। पाँच बार देवड़ाराव ने भोज पर आक्रमण किया। परन्तु सफलता न हुई, पराजित होकर राव को पीठ दिखानी पड़ी। अंत में ईडर के राव भाण की सहायता से भोज को मारकर

* नाडलाई के आदिनाथ के मंदिर की प्रशस्ति से जाना जाता है कि राणा श्री रायमल के राज्य में गोड़वाड़ पर महाकुँवर पृथ्वीराज अनुशासन करता था।

राव लाखा ने 'लास' अपने राज्य में मिला लिया। तब भोज का पुत्र रायमल अपने बेटे शंकर, सामंत, सखरा और दूसरे कुटुंब को लिए हुए कुम्भलमेरु में महाराणा की शरण में आया था। कुँवर पृथ्वीराज ने देसूरी का पट्टा उसको देकर कहा कि मादरेचों से उसे छीन लो। रायमल देसूरी के ठाकुर की कन्या से ब्याहा था, इसलिये पहले तो वह छल-बल द्वारा अपने श्वसुर की भूमि हरण करने में हिचकिचाया। परंतु जब देखा कि इसके अतिरिक्त और कुछ आशा यहाँ नहीं, तो लाचार उसने देसूरी जाकर कपट-क्रिया से श्वसुर व अन्य मादरेचों को मारकर देसूरी पर अधिकार कर लिया। उसी भोजराज के वंशज अब जीलवाड़े और रूपनगर के ठाकुर मेवाड़ के जागीरदार हैं।

साँगा के चले जाने और पृथ्वीराज को देश-निकाला होने से अब जयमल मेदपाट का युवराज रह गया था। उसने टोंक टोडा के सोलंकी राव सुरताण की स्वरूपवती कन्या तारादेवी से विवाह करना चाहा। राव सुरताण के पुरुषाओं से सुलतान अलाउद्दीन की बादशाहत में पठानों ने टोडा छीन लिया था और अब वहाँ लल्लाखाँ नामी एक पठान शासन करता था। सोलंकी राव राणा लाखा जी की शरण आया और उन्होंने बदनोर का पर्गना उसे जागीर में देकर अपनी चाकरी में रख लिया था। राव सुरताण की यह प्रतिज्ञा थी कि जो क्षत्रिय कुमार पठानों से मुझे अपने बाप दादों की भूमि वापस दिलावेगा, उसी के साथ मैं अपनी रूप-गुण-सम्पन्न तारा का विवाह करूँगा। अपनी मनोकामना पूर्ण होने की आशा कम देखकर जयमल राव सुरताण का परम विरोधी बन गया और खुल्लमखुल्ला कह दिया कि यदि तेरे कुटुंब को अपने रथ के घोड़ों की पूँछ से बँधवाकर न खिंचवाऊँ, तो मेरा नाम जयमल नहीं। जयमल बदनोर पर चढ़ चला। राव अपने कुटुंब सहित वहाँ से भाग निकला। पहर रात गए कुँवर बदनोर पहुँचा होगा कि उसे राव के भागने की सूचना मिली। साथ के सरदारों

ने कहा कि अब रात्रि में पीछा करना ठीक नहीं। अभी तो यहाँ आराम कीजिए; प्रभात ही जा लेंगे। हठीले राजकुमार ने उस शुभ सम्मति को न माना। आज्ञा दी कि मशालें जलाकर हाथियों पर धर लो और उनके उजाले में रातों रात चलो। आधी रात बीती होगी कि राव सुरताण के साथियों ने जयमल को आते देखा। तब तो राव की स्त्री ने हताश होकर घबराहट के साथ अपने भाई साँखला रतना से कहा—"भाई, अब हमारी लाज लुट जाने का अवसर आ पहुँचा है।" रतना ने कुछ भी उत्तर न दिया। अपने घोड़े को रोककर वह पीछे आनेवाले जयमल के साथ में मिल गया। ये लोग सब थकान और नींद के मारे हुए चल रहे थे। किसी का ध्यान उधर न गया। रतना ने अपना बरछा सँभाला और घोड़े को एड़ लगाकर जयमल को बग्घी के बराबर ले गया। कुँवर के नेत्र भी नींद के मारे अर्ध उन्मीलित से हो रहे थे और वह तकिए के सहारे झुका हुआ था। रतना बोला—"कुँवर साहब! रतना साँखला जुहार करता है।" और साथ ही अपना बरछा उसकी छाती के पार कर दिया। घाव भारी था; जयमल का प्राणपक्षी तत्काल वहीं उड़ गया। साथवालों ने मिलकर रतना को मार लिया और गाँव आकड़सादे में आकर जयमल के शव का अग्नि-संस्कार किया।

जब गोड़वाड़ में पृथ्वीराज ने अपने भाई की मृत्यु का समाचार सुना तो विचारा कि राव सुरताण की प्रतिज्ञा पूर्ण कर मैं उस वीरांगना का पाणिग्रहण करूँ! उधर पृथ्वीराज के साहस-पूर्ण आश्चर्य-जनक वीर कर्मों के सुनने से तारा देवी का हृदय भी उसके प्रेम में प्लावित हो गया और उसने अपने पिता की आज्ञा पा पृथ्वीराज को अपना पति बनाया। कुँवर के दिल में लगी थी कि श्वसुर की प्रतिज्ञा पूर्ण करे। ताजियों के अवसर पर वह चुने हुए ५०० सवार साथ ले टोड़े की ओर चला। जैसे रामचंद्र के वनवास के समय सती सीता ने राजसी सुखों को त्याग केवल पति-सेवा के हेतु वन वन फिरना निश्चय कर

लिया था, वैसे ही तारा देवी भी शस्त्र सजकर पृथ्वीराज के साथ हो ली। कुमार का परम भक्त एक सेंगर सरदार सेवक भी साथ था। ज्यों ही ताज़िया टोड़े के चौक में पहुँचा कि ये तीनों भी भीड़ में जा मिले। पठान सरदार पोशाक पहन अपने आवास से उतरता था कि उसकी दृष्टि इन तीनों अजनबियों पर पड़ी। पूछा कि ये लोग कौन हैं? उत्तर सुनने न पाया था कि पृथ्वीराज का बरछा और तारा के हाथ से छूटा हुआ तीर दोनों एक साथ उसके तन में घुसे और वह वहीं धराशायी हो गया। दूसरे पठानों के सँभलने के पूर्व ही ये नगर की पौली पर जा पहुँचे जहाँ एक मस्त हाथी इनका मार्ग रोके खड़ा था। चण्डी तारा देवी ने वहाँ अपनी तेज तलवार का चमत्कार दिखलाया और एक ही हाथ में गजराज के सुण्डा दण्ड के दो टुकड़े कर दिए। हाथी भागा और ये अपनी सेना में जा मिले और तत्काल हल्ला बोल दिया। राजपूतों की तीक्ष्ण-धार तलवार के आगे पठान न ठहर सके और पीठ दिखाई। टोडा पृथ्वीराज के हाथ आया और उसने राव सुरताण को फिर वहाँ स्थापित कर दिया। इसकी साक्षी का एक पुराना पद भी प्रसिद्ध है—"भाग लला पृथ्वीराज आयो। सिंह के साँतरै स्याल ल्यायो।" कहते हैं कि उसी दिन राजा ने टोडे से एक सौ कोस की दूरी पर जालौर के गढ़ पर जा धावा किया। तभी से उसको लोग उडणा पृथ्वीराज कहने लगे। अजमेर में नवाब मल्लू खाँ बादशाही सूबेदार था। जब उसने लल्लाखाँ की मृत्यु और टोडा छिन जाने का समाचार सुना, तो पृथ्वीराज से बदला लेना विचारा। परंतु इसके पूर्व कि मल्लू अपने विचार को कार्य में परिणत करे, अजमेर पहुँचकर कुमार ने उस पर धावा कर दिया और हार खाकर वह गढ़ बिठली (तारागढ़) में जा घुसा।

महाराणा कुम्भा जी की पुत्री रमाबाई का विवाह गढ़ गिरनार के यादव वंशी राजा मण्डलीक पंचम के साथ हुआ था। राव ने उस

रानी का कुछ अपमान किया जिसकी सूचना पृथ्वीराज को होते ही वह अचानक गढ़ गिरनार में जा पहुँचा और राव को वध करना चाहा। उसने अति दीन होकर प्राणों की भिक्षा माँगी। तब उसके कान का थोड़ा सा भाग काटकर छोड़ दिया और रमाबाई को चित्तौड़ ले आया। महाराणा रायमल ने मँगरे परगने में का जावर गाँव बहन को दिया, जहाँ सं० १५५४ वि० में उसका बनवाया हुआ रमा श्याम का मंदिर और रमा कुण्ड का रमयणीय जलाशय अद्यावधि विद्यमान है।*

महाराणा ने भैंसरोड़ का पर्गना रावत सूरज मल को बख्शा था। जब पृथ्वीराज ने यह सुना तो निवेदन कराया कि इस प्रकार पृथ्वी न बख्शी जाय। उत्तर पाया कि हमने तो दे दिया। अब यदि तुम से हो सके तो वापस ले लो। इतनी आज्ञा पहुँचने की देर थी कि पृथ्वीराज चुने हुए दो हजार सवार साथ लेकर भैंसरोड़ आया। सूरजमल और महाराणा लाखा के पौत्र सारंगदेव को, जो उसके यहाँ वंदी था, वहाँ से निकाल दिया। वे दोनों मालवे के सुलतान नासिरुद्दीन के पास सहायतार्थ गए। सुलतान ने भी अपने बाप दादों की हार का बदला मेवाड़ से चुका लेने का यह अच्छा अवसर जान अपनी बहुत सी सेना सूरजमल के साथ कर दी। इन्होंने भी कई पर्गनों पर अपना अधिकार जमा चित्तौड़ जा लेने को मन चलाया। महाराणा मुक़ाबले पर आए और गम्भीरी नदी के तट पर घमासान युद्ध हुआ। बर्छे और तीर तलवार के २२ घाव महाराणा के लग चुके थे और युद्ध का परिणाम शत्रु पक्ष के अनुकूल होनेवाला ही था कि अचानक एक सहस्र अश्वारोहियों सहित पृथ्वीराज ऐन मौक़े पर आ धमका; और इस फुर्ती के साथ जी छोड़कर धावा किया कि शत्रु के छक्के छूट गए। मालवी भागे और सूरजमल ने सादड़ी में और सारंगदेव ने बाठरड़े के जंगलों में जाकर

---

* इसी राव मण्डलीक को गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा ने विजय कर गिरनार लिया और राव मुसलमान हो गया था।

दम लिया। पृथ्वीराज उनका पीछा कब छोड़नेवाला था। निरंतर उनको खदेड़ता रहा। अंत में सारङ्गदेव को तो एक देवी के देवालय में बलिदान चढ़ाते वक्त मारा और सूरजमल का काम तमाम करने को सादड़ी पहुँचा। वीर राजपूत प्रायः अपने संबंधी शत्रु को पुकारकर उससे द्वंद्व युद्ध करते थे। परंतु उभय योद्धाओं के आंतरिक भावों में अन्य किसी प्रकार का विकार न रहने से रणांगण से छुट्टी पाने पर उनमें परस्पर खान पान का व्यवहार भी बिना शंका संकोच के हुआ करता था। तदनुसार पृथ्वीराज सूरजमल के साथ भोजन पर बैठा। सूरजमल की स्त्री ने अपने पति से गुप्त रखकर भोजन में विष मिलाया था। परंतु ज्यों ही विष-मिश्रित पदार्थ पर उसके पति का हाथ पड़ा कि तुरंत उसने थाली उनके सामने से खींच ली। अपनी काकी की इस क्रिया का रहस्य पृथ्वीराज जान गया, और साथ ही अर्द्धांगिनी की इस अधर्म-युक्त क्रिया से सूरजमल के चेहरे पर कोप और लज्जा दोनों प्रकट हो आए। पृथ्वीराज ने उसे निर्दोष समझ सप्रेम अंक में भर लिया और बोला— "काका जी! अब यह मेवाड़ का राज्य आपको मुबारक हो"। सूरजमल बोला—" बेटा, गद्दी लेना तो दूर रहा, अब तो मैं मेवाड़ में खड़ा रहकर जल भी न पीऊँगा।"*

पृथ्वीराज को साँगा का पता लग चुका था। वह अपने मार्ग में से उस कण्टक को दूर करने के साथ ही उसके आश्रयदाता करमचंद परमार का दर्प भी चूर्ण कर देना चहता था। परंतु परमात्मा की गति विचित्र है। भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। वह श्रीनगर की ओर पयान करने ही को था कि अनायास उसकी बहन आनंदा कुमारी का पत्र सिरोही से पहुँचा, जिसमें उसने अपने पति के अनुचित व्यवहार और अत्यचार का दुखड़ा रोया था। पत्र पढ़ते ही पृथ्वीराज के तन

* यही सूरजमल कांठल प्रांत में जाकर देवलिये प्रतापगढ़ के राज्य की नींव डालनेवाला हुआ।

मन में ज्वाला सी जल उठी। तत्काल सिरोही को चल पड़ा। आधी रात को वहाँ पहुँचकर महल पर चढ़ गया, और निद्रा-निमग्न राव की छाती पर चढ़कर अपनी कटार उसके कलेजे पर धर दी। आनंदा ने इस दृश्य को देखकर भयभीत मृगी की भाँति भाई से पति के प्राणों की भिक्षा माँगी। भगिनी की विनती से कुँवर ने राव जगमाल को इस शर्त के साथ मुक्त किया कि वह अपनी पत्नी की पगरखी सिर पर धरकर उसके चरण स्पर्श करता हुआ अपने अपराध को क्षमा माँगे। कालानुकूल राव ने सब कुछ स्वीकार किया और काल रूपी व्याल से बचा। फिर तो साले बहनोई परस्पर मित्र से बन गए। तथापि अपना महान् अपमान राव के हृदय में शूल सा खटकता था। दूसरे दिन उसने पृथ्वीराज को गोठ दी और पयान करते वक्त तीन गोलियाँ भेंट कर कहा कि ये अनंगोद्दीपक गुटिका रति-रंग में आनंद देनेवाली हैं। कुंभलगढ़ के पास पहुँचने पर भोले पृथ्वीराज ने वे गोलियाँ खा लीं। थोड़ी ही दूर गया था कि हलाहल ने अपना प्रभाव दिखलाया। मामा-देव के मंदिर तक पहुँचने भी न पाया था कि इतने में गिर पड़ा और पंचत्व को प्राप्त हो गया। तारादेवी अपने पति के साथ सती हुई।

इस प्रकार साँगा जी के सिवा मेवाड़ की गद्दी के दोनों अधिकारियों की समाप्ति का संक्षिप्त वर्णन कर अब फिर साँगा जी के वार्ता-सूत्र का ग्रहण करते हैं। बीदा राठौड़ से बिदा हो साँगा जी मारवाड़ की ओर गए। कहते हैं कि असह्य परिश्रम और थकान से घोड़ा तो मार्ग ही में मर गया। तब पैदल किसी चरवाहे की कुटी में जाकर ठहरे, और वहाँ उसके पशुओं को चराकर आपत्काल बिताने लगे। एक बार उस चरवाहे की स्त्री ने किसी भूल के कारण साँगा को बहुत कुछ बुरा भला कहा। इसी प्रकार इंगलिस्तान का राजा ऐलफ्रेड महान् डच लोगों से युद्ध में हारकर अपनी राजधानी से भागा और एक गड़रिए के घर जाकर टिका था। गड़रिए की स्त्री चूल्हे के पास पड़ी हुई रोटियों

का ध्यान रखने को आज्ञा देकर बाहर जल भरने को गई थी। ऐलफ्रेड अपनी प्यारी प्रजा और देश के विचार और अपने धनुष बाण के सुधार में इतना तल्लीन हो गया कि उसे रोटियों का स्मरण तक न हुआ और वे जल गईं। गडरिए की भार्या ने आकर देखा कि रोटियाँ जलकर राख हो गई हैं। तब उसने ऐलफ्रेड को बहुत कुछ घुड़का और अपने घर से निकाल दिया। वैसी ही अवस्था साँगा जी की भी हुई। वे चलकर अजमेर में श्रीनगर के परमार राजा करमचंद के यहाँ आ नौकर हुए। करमचंद प्रायः अपने सवारों को लिए आस पास के प्रदेशों में उत्पात मचाया करता था। एक बार साँगा जब दौड़ करके लौटा था, तो ग्रीष्म काल के प्रचण्ड मार्तण्ड को ताप से व्याकुल हो मार्ग में एक वट वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगा। थका हुआ तो था ही, निद्रा देवी ने आकर उस पर अपना प्रभाव जमा लिया और वह अपना खड्ग सिरहाने रख सो गया। वृक्ष के पत्तों में से होकर सूर्य्य की किरणें उसके मुखमण्डल पर पड़ने से धूप की झलक आ गई थी। तब एक नागराज ने अपना फन फैलाकर उस धूप को रोक लिया। जयसिंह वालेचा और जन्ना सिंघल नामक दो राजपूत उधर से जा रहे थे। वे यह दृश्य देखकर चकित हो गए और परमार राजा को यह कथा जा सुनाई। साँगा के सेवक द्वारा करमचंद ने जाना कि मेरा अतिथि चित्रकूटाधिपति का पुत्र और मेदपाट मण्डल का भावी भूपाल है। तब तो तुरन्त उसने नम्रतापूर्वक साँगा से अपने अपराध की क्षमा माँगी और अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। पृथ्वीराज को मृत्यु तक साँगा जी गुप्त रूप से वहीं रहे।

पृथ्वीराज जैसे सुप्रसिद्ध शूरवीर पुत्र की अकाल मृत्यु से महाराणा रायमल शोक सागर में डूब गए और उनकी शारीरिक स्थिति प्रति दिन निर्बल होने लगी। श्रीनगर से साँगा जी को बुलाकर युवराज पद दिया और कर्मचंद को भी उसकी चाकरी के बदले अच्छी जागीर

प्रदान की। मेवाड़ में बम्बोरी का ठिकाना अब तक कर्मचंद की संतान के अधिकार में है। सं० १५६६ वि० में राणा रायमल जी का परलोक-वास हुआ और उसी साल ३७ वर्ष की अवस्था में ज्येष्ठ सुदी ५ को साँगा जी राजसिंहासन पर सुशोभित हुए। पहले तो उन्होंने अपने उपकार-कर्त्ता कर्मचंद परमार को अजमेर का राजा बनाकर उच्चतम श्रेणी के सामंतों में स्थान दिया। तदनंतर क्रमशः अपने राज्य के सब आंतरिक विघ्नों का विध्वंस कर जो प्रदेश दूसरों के हस्तगत हो गए थे, उन पर फिर आधिपत्य जमाया। वे भली भाँति जानते थे कि ऐसे अव्यवस्थित काल में सैनिक और सामुदायिक बल बढ़ाने ही से अर्थ-सिद्धि हो सकती है। अतएव अपनी चतुरंगिणी चमू को शक्तिशाली बनाना और सरल राजनीतिक व्यवहार, प्रेम, दान-मानादि उत्तम व्यवहारों से जहाँ तक सम्भव था, राजपुत्रों का मन मोहकर उन्हें अपने पक्ष में लेना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। साँगा जी की वीरता और सद्गुणों ने उनके लिये हिंदूपति की पदवी प्राप्त की और केवल क्षत्रिय जाति ही नहीं किंतु सर्व हिंदू समाज उनको परम प्रतिष्ठित समझकर प्रेम और पूज्य भाव से सहर्ष उनका अनुवर्ती रहने में अपना सौभाग्य समझता था। यही कारण था कि उनकी पताका के तले राजस्थान के प्रायः सभी राजा महाराजों ने एकत्र होकर विधर्मी और विदेशियों का राजशासन देश से हटा पुनः स्वतंत्र हिंदू राज्य स्थापित कर देने की अंतिम चेष्टा की थी। दिल्ली, मालवा और गुजरात के मुसलमान बादशाहों के महाराज्यों से मेवाड़ घिरा हुआ था और उनकी सदा यही वासना रहती थी कि किसी प्रकार प्रयत्न करके राणारूपी कण्टक को—जो चिर काल से हमारा मान मर्दन करते आए हैं—अपने पथ में से दूर कर दें। परंतु वीर साँगा ने सब के घमण्ड तोड़ दिए; यहाँ तक कि रणांगण में उनको पराजित कर उनका बहुत सा इलाका छीन लिया; सुलतानों को बँधुआ बनाकर चित्तौड़ गढ़ में रखा,

और उन्हें अपनी धृष्टता का दण्ड देकर पीछे से मुक्त भी कर दिया। नीचे लिखे गीत से इस बात की पुष्टि होती है—

"इबराहिम पूरब ना उलटै, पछुम मुदाफर न दै पयाण।"
"दखणी महमद साह न दौड़े, साँगो दामण त्रहुँ सुरताण॥"
"साह येक दस येक न साझै, विदसन साझै हेक वण।"
"सुजसै राण रायमल संभ्रम, त्रेख लिया पतसाह त्रण॥"
"साँई सूरो गमण न साझै लीहनु को लोपवै लग।"
"बापा हरै बलाक्रम बाँध्या, पतसाहाँ त्रहुँ तणा पग॥"

भावार्थ—राणा रायमल के पुत्र साँगा ने इब्राहीम (दिल्लीपति), मुजफ्फर शाह (गुजराती) और महमूद (मालवी) तीनों बादशाहों के पग बंधन में कर दिए हैं, जिसके कारण वे अपनी अपनी हद से बाहर नहीं निकल सकते। उत्तरी भारत में उस वक्त कोई क्षत्रिय राज्य इतना प्रबल न था जो मेवाड़ की बराबरी कर सकता। आँबेर के कछवाहे मेवाड़ के मातहत थे और मारवाड़ के राठौड़ कुछ शक्ति-संपन्न हो गए थे। परन्तु वीर साँगाजी की कार्यवाहियों ने हिंदू मात्र के हृदय में एक प्रकार के बल और उत्साह का संचार करके सब को आशा बँधा दी कि अब दिल्ली के तख्त का बादशाही झण्डा चित्तौड़गढ़ की सफीलों पर फहरानेवाला है।

दिल्ली के साम्राज्य पर लोदी पठानों का आधिपत्य था और मालवे (गुजरात) में खिलजी और टाँक सुलतान शासन करते थे। सिकंदर लोदी ने दिल्ली से राजधानी आगरे में बदल दी थी। उसके अन्याय व इबराहीम शाह की क्रूरता व अत्याचार के कारण प्रजा परेशान थी। पठानों की शक्ति का प्रति दिन ह्रास होता जाता था। सूबे स्वतंत्र बनने लग गए थे और चारों ओर से उपद्रवियों ने सिर उठा रक्खा था। ऐसे अवसर पर साँगा जी जैसे वीर और पुरुषार्थी

महाराजाधिराज के मन में दिल्ली का तख्त लेने की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।

सं० १५१७ ई० में जब इबराहीम शाह लोदी तख्त पर बैठकर अपने उमरा का उपद्रव शमन करने में तत्पर हो रहा था, उसने सुना कि महाराणा साँगा ने कई इलाके दबा लिए हैं। वह सेना सजकर मेवाड़ पर चढ़ आया। हाडोता में खातोली के पास महाराणा से युद्ध हुआ। दोपहर तक लोहा बजता रहा। अंत में पठान सेना ने पीठ दिखाई। एक लोदी शाहजादा बंदी हुआ जिसे महाराणा ने दण्ड लेकर मुक्त कर दिया। इस युद्ध में साँगा जी के बाएँ हाथ पर तलवार का और एक पाँव में तीर का घाव लगा था। फिर सं० १५१८ ई० में इबराहीम शाह ने इसलाम खाँ के उपद्रव का शमन करके अपनी हार का बदला लेने को मियाँ हुसैन ज़रबख्श खानखानाँ फर्मूली व मियाँ मारूफ को मियाँ माखन की अध्यक्षता में सबल सैन्य देकर मेवाड़ पर भेजा था। कारणवशात् मियाँ हुसैन महाराणा का शरणागत हुआ और मियाँ माखन बुरी तरह हारकर भागा। तारीख सलातीन अफगाना में मियाँ हुसैन के विश्वासघात से पहले बादशाही फौज का हारना और फिर अचानक धावा करके राजपूतों पर विजय पाना लिखा है जो विश्वसनीय नहीं; क्योंकि उसी समय की लिखी हुई तारीखे दाऊदी और वाकेआत मुश्ताकी में विजय का कुछ भी वर्णन नहीं है। हुसैन के लिये केवल इतना ही लेख है कि सुलतान के हुक्म से वह चँदेरी में धोखे से मारा गया और घातक को बादशाह ने ७०० अशरफी का इनाम और दस गाँव जागीर में दिए। यदि विजय हुई होती तो बयाने के आगे पीलेखाल (आगरे के पास) तक साँगाजी के राज्य की सीमा कैसे रह सकती थी। फारसी तवारीखों में प्रायः ऐसा देखा गया है कि जहाँ कहीं इसलाम की सेना की हार हुई, तो प्रथम तो मुवर्रिख ने अपनी तारीख में उस घटना को जगह ही नहीं दी; और जो कहीं

दी थी तो ऐसे शब्दों में—"बरसात का मौसम आ जाने से सुलतान ने फौज हटा ली, या किसी बगावत का हाल सुनकर मुड़ गया, गढ़ को मजबूती देखकर उसे दूसरे साल फतह करने के लिये छोड़ दिया, या नजर नजराना लेकर लौट गया, इत्यादि इत्यादि।" *

मालवे के सुलतान महमूद खिलजी के सामन्त उससे बिगड़े हुए थे और सुलतान को अपनी सत्ता ही का नहीं किंतु प्राणों का भी भय हो जाने से वह माँडूगढ़ में जा बैठा। उमरा ने मुहाफिज खाँ की सरदारी में खुल्लमखुल्ला बग़ावत का झण्डा खड़ा कर महमूद के भाई साहब खाँ को तख्त पर बैठा दिया। तब सिकंदर शाह लोदी ने महमूद को सहायता दी थी। परंतु मालवे का जो विभाग उसने साहबखाँ से छुड़ाया, उसको दिल्ली की बादशाहत के शामिल कर लिया था। इबराहीम शाह पर फतह पाने से वह सारा प्रांत महाराणा साँगाजी के अधिकार में आ गया। भिलसा रायसेन और चँदेरी के दो बड़े राज्य उस विभाग में थे जो महाराणा ने वहाँ के राजा सलहदी तँवर † और मेदनी राय को बहाल रख उनको अपने सामन्तों की श्रेणी में दाखिल किया। बग़ावत के वक्त मेदनी राय ने सुलतान महमूद को बड़ी सहायता दी थी। उसी के कारण सुलतान के प्राणों की रक्षा हुई। अर्थात् महमूद जब माँडू को जाता था तो मार्ग में बागी उमरा ने उसे घेर लिया। परंतु मेदनी राय और उसके राजपूतों ने जान पर खेलकर सुलतान पर आँच न आने दी और अरिदल का संहार कर सुलतान को सही सलामत माँडू पहुँचा दिया। जब मेदनी मालवे का कर्ताधर्ता हो गया, तब उसने ४० सहस्र राजपूतों का दल जोड़ लिया और उनके द्वारा बाग़ी साहब खाँ

---

* कर्नल टाड ने यह युद्ध बाकरोल के मुकाम में होना लिखा है और बाकरोल को हमीर गढ़ का पुराना नाम बतलाया है।

† कर्नल टाड लिखता है कि चन्देरी राणा साँगा ने बाँधोगढ़ के मुकुंद बाघेले से ली थी और मोहणोत नैणसी की ख्यात से भी इसकी पुष्टि होती है।

(उपनाम मुहम्मद शाह) की ही कमर न तोड़ी, किंतु सुलतान महमूद की सत्ता भी पुनः पूर्ण रूप से स्थापित कर दी थी ।

एशियाई राज्यों में स्वार्थी लोग एक दूसरे की घात में लगे रहकर राजा महाराजों के कान भरते रहते और टंटे खड़े किया करते हैं । राजदरबारों की इस खटपट और राजा लोगों के कच्चे कानों के कारण प्रायः स्वार्थियों के तीर लक्ष पर जा लगते हैं । तदनुसार दूसरे उमरा ने मेदनी राय के विरुद्ध सुलतान को भड़काना आरंभ किया कि उसने तो आपको नज़रबंद सा बना रक्खा है; अवसर पाकर बादशाहत छीन लेगा । अपनी मानसिक निर्बलता और अदूरदर्शिता से महमूद भी उनके फेर में पड़ गया और वह कृतघ्न मेदनी के उपकारों को भूलकर उसे मार डालने में उसके शत्रुओं से सहमत हुआ । तलवार चलाई, परंतु वार खाली गया और चरका खाकर मेदनी अपनी राजधानी में जा बैठा । उसके राजपूतों ने अनुरोध किया कि ऐसे दुर्बल राजा को तो राज्यच्युत कर देना ही उचित है; परंतु वह वीर क्षत्री फिर भी अपने धर्म में अटल बना रहा । पापी पुरुष का मन भय और लज्जा से सदा काँपता रहता है । इस न्याय से सुलतान महमूद को विश्वास हो गया कि मेदनी अवश्य मुझसे बदला लेगा । अतएव भयभीत होकर वह गुजरात की ओर भागा । दोहद के हाकिम ने शिष्टाचारपूर्वक उसका यथेष्ट आदर सत्कार किया और अपने स्वामी सुलतान मुज़फ्फर शाह गुजराती के पास उसके आगमन की सूचना भेजी । मुजफ्फर ने श्वेत छत्र और लाल डेरे, और बहुत सी सेना भी महमूद के पास भेज दी । थोड़े ही समय पीछे आप भी वहाँ पहुँच गया और उसे साथ लेकर मालवे की ओर प्रयाण किया । पर मेदनी राय ने महमूद के विरुद्ध बुरा विचार तक न बाँधा था, इसलिये इस प्रकार मालवा देश के राजसिंहासन की अपकीर्ति होने से उसे बड़ा खेद हुआ । सुलतान की अनुपस्थिति में उसने हरमसरा की बेगमों के साथ भी,

जिनको महमूद माँडूगढ़ में छोड़ गया था, अच्छा बर्ताव किया था और राजकाज भी बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ चलाया था। भरे दरबार में वह पुकार पुकारकर कहा करता कि सुलतान को लिख दिया जाय कि वह आकर अपना राज सँभाले और दूसरा प्रधान नियत कर ले। इतने पर भी जब उसने सुलतान को अपने प्रतिकूल ही पाया तो लाचार माँडू में कुछ सेना छोड़कर आप महाराणा साँगा की शरण गया। महाराणा उसको साथ लिए हुए अपनी सीमा तक आए भी, परंतु जब सुना कि सुलतान महमूद माँडू में दाखिल हो गया है तो लौट गए, और मेदनी राय को जागार में गागरून प्रदान किया। सुलतान मुजफ्फर भी असफखाँ की अध्यक्षता में अपनी थोड़ी सेना महमूद के सहायतार्थ छोड़ आप गुजरात की ओर कूच कर गया।*

---

* यह कथन बेली साहब की तारीखे गुजरात और फरिश्ता का है जो हरविलास जी सारडा ने अपनी अँगरेजी पुस्तक राणा साँगा के पृष्ठ ६३-६४ में लिखा है। परंतु मिराते सिकंदरी और तारीख बहादुरशाही का बयान भिन्न प्रकार से है:—मालवे के सुलतान महमूद खिलजी (दूसरे) के शासन काल में राजपूतों ने मालवे में बहुत जोर पकड़ लिया था। चंदेरी का राजा मेदनी राय, जो सुलतान का प्रधान था, सुलतान को अपने काबू में कर आप मुल्क का मालिक बन बैठा। मौक़ा पाकर सुलतान उसकी कैद से निकल भागा और मुजफ़्फ़र शाह गुजराती के पास पहुँचकर उसे अपनी मदद के वास्ते मालवे लाया। फरिश्ता के बयान के अनुसार महमूद ने भागकर माहेश्वर में पनाह ली थी। मुजफ्फर शाह ने महमूद के वास्ते श्वेत छत्र और लाल डेरे भेजे और सेना को भी सहायतार्थ रवाना कर पीछे से आप भी आ पहुँचा। दोनों ने मिलकर कई लड़ाइयों में राजपूतों को शिकस्त दी। मेदनी राय मांडूगढ़ में चला गया था। फिर वहाँ अपने बेटे भीमर (मिराते सिकंदरी में नाथू लिखा है) को छोड़कर आप महाराणा साँगा के पास मदद को गया। इस बीच में भीमराय सुलतान से किला खाली कर देने के बहाने दिन बिताता रहा। क्योंकि महमूद की हरमसरा की बहुत सी बेगमें और दूसरी औरतें माँडू के गढ़ में थीं; इसलिये उनके बचाव के वास्ते भीमराय की बात मानकर सुलतान मुजफ्फरगढ़ से थोड़ी दूर अपना लश्कर हटा ले गया। परंतु जब उसे खबर मिली कि राणा निकट आ पहुँचा है तो बुर्हानपुर के हाकिम आदिल खाँ और किवामुल् मुल्क को तो राणा की राह रोकने को रवाना किया और आप वापस माँडू गया। चार दिन रात बराबर हमले करता रहा। पाँचवें दिन गढ़ फतह हुआ। राजपूत अपनी औरतों व बाल बच्चों को आग में जलाकर मैदान जंग में कूद पड़े और बड़ी बहादुरी के साथ लड़

मेदनी राय का इस तरह अछूता निकल जाना और साँगा जी का उसकी सहायता पर आना सुलतान महमूद को न भाया। उसने असफ खाँ की कुमकी सेना को साथ ले गागरून पर चढ़ाई कर दी जो उस वक्त मेवाड़ के अधिकार में था। अपने परिजन और प्रजा की रक्षा करने और महमूद को अपनी धृष्टता का मजा चखाने के वास्ते महाराणा अपनी सेना इकट्ठी कर चित्तौड़ से रवाना हुए। मेड़ते का राव बीरम देव राठौड़ भी सेना सहित साथ में था। दोनों दलों के योद्धा युद्ध के लिये उत्सुक हो रहे थे। गुजराती अफसर असफ खाँ और दूसरे मालवी सरदारों ने भी सुलतान महमूद से कहा कि इस अवसर पर लड़ाई करना अच्छा नहीं है; परंतु उसने न माना। थोड़ी ही देर में राजपूतों के चंद्रहास ने सुलतान की सेना के कई योद्धाओं को धराशायी कर दिया। यद्यपि पठान बड़ी वीरता के साथ लड़े, परंतु राजपूतों के प्रहार और मार के आगे उनके पैर उखड़ गए और उन्होंने पीठ दिखाई। असफ खाँ का एक बेटा मारा गया और स्वयं उसने बड़ी कठिनता से भागकर अपने प्राण बचाए। केवल दस सवारों से सुलतान रणक्षेत्र में डटा हुआ वीरता के साथ शत्रु से लड़ता रहा। तीर तलवार बर्छे के ५० घाव उसके शरीर पर लगे। अंत में वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और कैद हो गया। जब महाराणा ने सुना कि सुलतान मुर्दों के ढेर में घायल पड़ा हुआ है, उस वक्त यदि वे वैसा बर्ताव करते जैसा

कर काम आए। फरिश्ता और मिराते सिकंदरी के मुवर्रिख इस लड़ाई में १९ हजार राजपूतों का कत्ल होना लिखते हैं और तारीख बहादुरशाही में चालीस हजार की संख्या दी है। (ये संख्या अत्युक्ति से खाली नजर नहीं आती) माँडू फतह होने की खबर सुन महाराणा पीछे फिर गए। यह समाचार राणा को एक घायल राजपूत ने पहुँचाए जो मांडू से आया था। लड़ाई का हाल बयान करते हुए उसे इतना जोश आया कि उसके घाव फट पड़े और उनमें से रुधिर बहने लगा जिससे वह उसी जगह राणा के रूबरू मर गया। मेदनीराय निराशा के समुद्र में डूबकर अपघात करने पर उतारू हुआ। परंतु महाराणा उसे समझा बुझाकर अपने साथ चित्तौड़ ले आए। माँडूगढ़ में मुजफ्फर शाह के साथ मेदनी राय के राजपूतों का युद्ध होना और उन्हें परास्त कर सुलतान का माँडूगढ को लेना विश्वसनीय है।

कि विजयी मुसलमान सरदार अपने विधर्मी बंधुओं के साथ किया करते थे, तो अवश्य अपने एक परम शत्रु को अपने पथ में से दूर कर सदा का उपद्रव मिटा देते और उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लेते, जो राजनीतिक रीति से भी अनुचित नहीं था। परंतु साँगा जी की वीरता, उदारता और धर्म ने इस मंतव्य को न माना। वे सुलतान को उठवाकर अपने शिविर में लाए, और आराम के साथ उसे चित्तौड़ ले जाकर घावों की मरहम पट्टी कराई। तीन मास तक चित्तौड़ में कैद रखकर सुलतान होशंग का जड़ाऊ ताज और कमरबन्द दण्ड में ले माँडू का राज्य उसी को वापस दे दिया और अपने राजपूत साथ देकर उसे अपनी राजधानी में पहुँचाया। *

---

* महाराणा साँगाजी की इस अनुपम उदारता व असीम दया की बड़े बड़े नामी और कुशल मुसलमान इतिहास-वेत्ताओं ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। शाहंशाह अकबर के वजीर लोकप्रसिद्ध विद्वान अब्दुलफज़ल ने राणा की दरिया दिली और दिलेरी के लिये बहुत कुछ लिखा है। "तबकाते अकबरी" के रचयिता निजामुद्दीन अहमद ने भी राणा की ऐसी उदारता को अपूर्व और अलौकिक बतलाया है। परंतु अभी मौलवी नजमुलगनी रामपुरी ने एक किताब "कारनामै राजपूतान" के नाम से उर्दू में छपाई है। उसमें आप लिखते हैं—"महमूद को यह शिकस्त एक गलती के कारण मिली, और साँगा ने इस दहशत से महमूद को छोड़ दिया कि जो मैं उसे कैद रखूँगा तो दूसरे मुसलमान सुलतान छेड़ छाड़ करेंगे।" भला पाठक आप ही विचारिए कि जिस साँगा ने दिल्ली, गुजरात और मालवे के सुलतानों को अनेक बार शिकस्त दी थी, उसे उनका क्या भय था। परंतु पक्षपाती और दुराग्रही गुण ग्रहण नहीं करते। कारनामे के लेखक को यदि राजपूतों के इतिहास का सामान्य ज्ञान भी होता तो वह ऐसा फैसला नहीं देता। वीर चार प्रकार के होते हैं—युद्ध-वीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। मेरे नजदीक तो चारों प्रकार की वीरता साँगाजी में मौजूद थी। उनका युद्धवीर होना तो प्रसिद्ध ही है। दान में वे इतने बढ़े हुए थे कि एक बार उन्होंने अपना सारा राज्य अपने बारहट हरीदास को बख्श दिया, जिसकी साक्षी का गीत हरिदास का कहा हुआ यों है:—

"धन साँगा बात हमीर कलोधर, गौरी वै मोखण ग्रहण।"
"गढ़ आपियान को गढ़ पतियाँ, तो ज्यूँही रायमलतण।"
"दे गज गाम कोड़ हैवर द्रव्य, अघपत दतचकवै उनमान।"
"सिंहासण छत्र चमर सहेतो, दूजे कियो न दीधो दान।"

दिल्ली और मालवावालों के साथ हिंदूपति साँगाजी की कार्यवाहियों का ऊपर थोड़ा सा वर्णन किया गया है। अब गुजरात की कथा सुनिए। ईडर का राज्य गुजरात की सीमा पर है। वहाँ का राव भाण अपने

"रजवट रीझ खीज धन राणा, लड़ महमुर सुरताण लिया।"
"खित चित्रकोट कव्या खूमाँणा, दिग विजयी तैं रीझ दिया।"
"सबलाँ साँड निबल साधारण, अवजे तू साँगा बर वीर।"
"किवं राणा कीधा कैनपुरा, हिंदवाणा खिविया हमीर।"

विजय की हुई धरती के बड़े बड़े राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने का लोभ न करके उनके अधिकारियों ही को प्रदान कर देना साँगाजी की शक्ति-सम्पन्नता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। विशेष क्या कहें, उनके दान और दया का क्या यह एक उत्कृष्ट निदर्शन नहीं है कि माँडू का महाराज्य विजय करके उन्होंने सुलतान महमूद को वापस दे दिया? इस विषय की एक वार्ता प्राचीन ख्यात में है कि एक वार सुलतान महमूद सहित महाराणा अपने दरबार में (चित्तौड़गढ़ में, जहाँ सुलतान कैद था) बैठे हुए थे। महाराणा के हाथ में एक पुष्प-गुच्छक था। वह उन्होंने सुलतान को देना चाहा। शिष्टता और सभ्यता के साथ सुलतान ने निवेदन किया कि देना दो प्रकार से होता है। एक तो दाता अपने हाथ को ऊपर रखकर दे; और दूसरे, हाथ नीचे रखकर भेंट करे। यदि आप प्रथम रीति से यह उपहार मुझको दान करते हैं, तब तो मेरा पद और प्रतिष्ठा उसे ग्रहण करना गवारा नहीं करती और दूसरी रीति से लेना मेरी शक्ति के बाहर है। सुलतान की इस उक्ति से महाराणा बहुत प्रसन्न हुए और यह कहकर वह गुच्छक सुलतान को दिया कि इसके साथ हम माँडू का राज्य भी आप को वापस देते हैं। तब तो सुलतान ने सहर्ष नत-मस्तक होकर वह गुच्छक ले लिया। दयावीर होना इससे स्पष्ट है कि चंगुल में फँसे हुए शत्रुओं को अभय प्रदान कर देते थे। वास्तव में दुश्मन पर दया दिखलाना राजनीतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। मुसलमानों ने जब जब और जहाँ जहाँ अपने शत्रुओं पर विजय पाई, प्रायः उनके प्राण ही लिए। जैसे कि वीर पृथ्वीराज चहुवाण ने सुलतान शहाबुद्दीन गोरी को परास्त कर बन्दी बनाया और मुक्त कर दिया। परंतु ज्यों ही पृथ्वीराज गोरी शाह के हाथ आया कि उसकी गर्दन पर छुरा चला दिया गया। दाँव पर चढ़े हुए सुलतान अलाउद्दीन खिलजी को राणा अजयसिंह ने छोड़ दिया। परंतु राणा के साथ विश्वासघात करने में अलाउद्दीन न चूका। क्षत्रिय वीरों की उदारता के ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि महमूद को मुक्त करके साँगाजी ने अपनी जाति और अपने देश को बड़ी हानि पहुँचाई। परंतु सच्चा वीर क्षत्री नैतिक छल प्रपंचों द्वारा अर्थ-सिद्धि करने की अपेक्षा अपनी उज्वल कीर्ति को चिर-स्थायी करने की विशेष इच्छा रखते हैं। उनको युद्ध जीतने की उतनी अभिलाषा नहीं रहती जितनी कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने की रहती है।

सूरजमल और भीम नामक दो पुत्र छोड़कर काल-प्राप्त हुआ। सूरजमल केवल १८ मास ही राज करने पाया था कि मृत्यु का दूत आ पहुँचा। उसका बेटा रायमल महाराणा साँगा का जमाई था। जब सूरजमल मरा तो उसका भाई भीम गद्दी पर बैठ गया; और भीम के पीछे उसके पुत्र भारमल को गद्दी मिली। रायमल अपना हक़ पाने के अभिप्राय से साँगाजी की शरण गया। उन्होंने भारमल को निकालकर रायमल को राज्य दिला दिया। भारमल अपनी पुकार गुजरात के सुलतान मुज़फ्फ़र शाह के पास ले गया। सुलतान ने अहमदनगर के हाकिम निज़ामुल् मुल्क को आज्ञा भेजी कि रायमल को निकालकर भारमल को ईडर दिला दो। निज़ामुल् मुल्क सेना लेकर आया। रायमल ने लड़ाई की; परंतु हारकर पहाड़ों में भागा। वहाँ भी निज़ाम ने उसका पीछा किया। रायमल ने अचानक छापा मारा, जिसमें शाही सेना के कई नामी नामी आदमी मारे गए और निज़ाम ने पराजित होकर पीठ दिखाई। रायमल को ईडर से निकाल देने से निज़ामुलमुल्क को बड़ा अभिमान हो गया था। एक दिन किसी भाट ने उसके सामने महाराणा साँगा की प्रशंसा की थी जिससे चिढ़कर निज़ाम ने भाट को बहुत कुछ बुरा भला कहा और महाराणा की शान में भी कई अपशब्दों का उच्चारण किया। जब यह वृत्तांत महाराणा के कान तक पहुँचा तो उन्होंने गुजरात पर चढ़ाई कर निज़ाम का मद-मोचन करना ठान लिया। वे चालीस सहस्र सवारों की सेना ले ईडर पर जा चढ़े। रावल उदयसिंह बागड़ी, राव गाँगा और बीरमदेव मेड़तिया भी साथ थे। जब निजाम ने सुना कि साँगा आता है, तो भय खाकर ईडर छोड़ अहमदनगर को भाग गया। ईडर फिर रायमल को दिलाकर निजाम का पीछा करते हुए महाराणा भी अहमदनगर पहुँचे। जिस भाट ने निजाम या नसरतुलमुल्क के सामने साँगाजी का यश गाया था, उसने अहमदनगर पहुँचकर उससे कहा कि देखी तुमने साँगा की तलवार, जिसके

भय से अब भागे भागे फिरते हो ? अब भी यदि गढ़ खाली करके अहमदाबाद चले जाओ तो राणा जी अपने घोड़े को गढ़ के नीचे पानी पिलाकर लौट जायँगे। निजाम ने फिर आवेश में आकर लड़ाई पर कमर बाँधी। इस बार भी उसके कई योद्धा खेत हुए। फिर तो उसने अहमदाबाद में जाकर ही दम लिया। मुहणोत नैणसी लिखता है कि इस युद्ध में महाराणा के सामंतों में से डूँगरसिंह चहुवाण बड़ी वीरता के साथ लड़ा और घावों से भर जाने तक अपने कराल करवाल से शत्रुओं को काटता रहा। डूँगर के पुत्र कान्हसिंह ने भी वैसा ही अद्वितीय शौर्य्य प्रकट किया जैसा कि बल्लू शक्तावत ने राणा अमरसिंह (प्रथम) के समय में कंटाले के रणक्षेत्र में दिखलाया था। अर्थात् गढ़ के द्वार पर लगे हुए लोहे की तीक्ष्ण कीलों पर अपनी पीठ टेककर हाथी से मोहरा करवाया, जिससे दरवाजा टूटा और महाराणा की सेना गढ़ में घुस गई। महाराणा ने बदनोर का परगना डूँगरसिंह को जागीर में दे रखा था। इसी युद्ध के वर्णन में मिस्टर फार्बेस ने अपनी पुस्तक रासमाला में लिखा है—"राजपूतों की वीरतापूर्ण हाँक से इसलाम सेना की सफें टूट गईं; सुलतान के कई नामी नामी अफसर मारे गए; मुबारजुलमुल्क भी घायल हुआ, और उसके हाथी छिन गए; और सारी सेना अस्तव्यस्त होकर अहमदाबाद की ओर भागी। राणा साँगा ने आस पास के प्रदेश सुखपूर्वक लूटे।" अहमदनगर लूटता हुआ राणा बड़नगर पहुँचा। वहाँ के निवासियों ने दीनतापूर्वक प्रार्थना की कि हम तो ब्राह्मण हैं; हम पर दया कीजिए। दयावीर साँगाजी ने उनको किसी प्रकार का कष्ट न दिया और बीसलनगर आए। वहाँ का हाकिम हातिमखाँ लड़ाई में मारा गया। गुजरात को तहस नहस करते हुए राणाजी चित्तौड़ पहुँचे। सुलतान मुजफ्फर शाह बन्दी की भाँति मुहम्मदाबाद में पड़ा रहा। उसे हिम्मत न हुई कि राणा के सन्मुख होकर अपने देश और प्रजा की रक्षा करे।

जब महाराणा अपनी मान-हानि का मनमाना बदला लेकर मेवाड़ में दाखिल हो गए, तब अपने देश और दल बल की दुर्गति से लज्जित सुलतान मुजफ्फर अपने रक्षित स्थान से निकला और बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके सन् ९२७ हि० सं० १५७७ वि० में उसने बड़ी तय्यारी करके एक लाख सवार और एक सौ जंगी हाथियों का जर्रार लश्कर जबर्दस्त तोपखाने सहित मलिक अय्याज की मातहती में चित्तौड़ पर भेजा। इसके अतिरिक्त बीस सहस्र सवार किवामुलमुल्क को कुमकी सेना की भाँति देकर अय्याज के साथ किया; और विशेष सैन्य एकत्र करने और परिणाम की पतीक्षा करने के निमित्त आप अहमदनगर में ठहरा रहा। तबक़ाते अकबरी का रचयिता लिखता है कि वहाँ से फिर बहुत सा लश्कर निज़ामुलमुल्क और तेजखाँ की सरदारी में सुलतान ने मलिक अय्याज़ के पास भेजा था। डूँगरपुर बाँसवाड़े को फूँकते हुए मलिक ने महाराणा के राज्य में प्रवेश किया। हिरोल के अफ़सर शुजा-उलमुल्क और सफदरखाँ के साथ डूँगरपुर के रावल उदयसिंह ने युद्ध किया; परंतु परास्त हुआ। मलिक अय्याज ने मंदसोर पर घेरा डाला; और वहीं मालवे का सुलतान महमूदशाह भी दल बल सहित उससे आ मिला। अशोक मल्ल, जो राणा की तरफ से मंदसोर में किलेदार था, शत्रु के सम्मुख होकर काम आया; परंतु गढ़ गुजरातियों के हाथ न लगा। सलहदी पुरबिया सुलतान महमूद के साथ था। संधि की बात चीत चली; परंतु उभय पक्षवालों ने अपनी अपनी टेक न छोड़ी। किवामुलमुल्क हमला करने पर तुला हुआ था। मिराते सिकंदरी में लिखा है कि मुसलमान उमरा मलिक अय्याज का श्रेय नहीं चाहते थे; इसलिये गढ़ लेने में सफलता न हुई। यहाँ भी फारसी मुवर्रिख वैसी ही अविश्वसनीय बात लिखकर वास्तविक घटना का गोपन करते हैं। यह कथन कि सुलतान महमूद खिलजी ने मलिक अय्याज के विरुद्ध कार्यवाही करने से किवामुलमुल्क को रोका

और राणा ने अधीनता स्वीकृत कर ली, इसलिये अय्याज़ संधि करके खिलजीपुर को लौट गया, कहाँ तक सही समझा जा सकता है ? भला जो अय्याज़ अपने स्वामी के सन्मुख ऐसी शेखी बघारकर आया था कि "मैं राणा को जीता पकड़कर हाजिर कर दूँगा", यदि उसे विजय की कुछ भी आशा होती, तो कब सम्भव था कि लाखों लश्कर साथ होते हुए वह इस तरह बिना युद्ध किए लौट जाता ? उसे निश्चय हो गया कि साँगा के संमुख मेरी दाल नहीं गलेगी और लड़ाई का परिणाम अच्छा नहीं होगा। तब दुर्दशा-ग्रस्त होकर लौटने की अपेक्षा संधि कर लेने में ही कुशल है। इसके अतिरिक्त यदि राणा ने दबकर संधि की होती तो अवश्य कुछ नज़र नज़राना आदि दिया जाता। परंतु मिराते सिकंदरी में केवल इतना ही लिखा मिलता है कि सलहदी अपने दस सहस्र सवारों को लेकर राणा से मिल गया; इसलिये गढ़ फतह नहीं हो सका और राणा ने असदुलमुल्क से छीने हुए हाथी और अहमद-नगर की लूट का माल वापस भेज दिया।

सुलतान महमूद भी अपने अपमान का बदला लेने की आशा से आया था; परंतु वह तो पहले से साँगाजी के हाथ देखे हुए था। इसलिये अपने बेटे को, जो राणाजी के पास ओल में था, मुक्त करा कर जैसा आया था, वैसा ही वापस चला गया। रासमाला का रचयिता फार्बस साहब सत्य लिखता है कि चाहे मुसलमान मुवर्रिख़ कितनी ही डींगें मारें कि हिंदू राजा कुचल दिए गए, और चाहे मुसलमान बादशाहों ने हिंदुओं पर घोर अत्याचार करके उनका रक्तपात करने में कमी न की हो, तथापि यह तो निस्सन्देह और प्रत्यक्ष है कि उन्हीं राजा महाराजों की सन्तानें अनेक आपत्तियाँ उठाने पर भी आज तक उसी भूमि पर आधिपत्य रखती हैं जहाँ से उनके शत्रुओं ने उनको उच्छिन्न कर देना चाहा था।

मुज़फ्फर शाह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सिकंदर को अपना उत्तराधिकारी

बना दिया था। परंतु दूसरे बेटे बहादुरखाँ को भी बादशाह बनने की उत्कण्ठा लगी हुई थी। किसी ढब से यह भेद सिकंदर पर खुल गया। तब तो प्राणों के भय से बहादुर भागकर महाराणा साँगाजी की शरण में आया। महाराणा ने भी अपनी स्वाभाविक उदारता और शरणागत की रक्षा के अपने वंश-परंम्परा के धर्म के कारण बहादुर को यथोचित्त आदर सत्कार से अपने पास रक्खा, और राजनीतिक व्यवहार पर कुछ ध्यान नहीं दिया। महाराणा की माता का बहादुर पर बड़ा प्रेम हो गया था और वे उसे अपने पुत्रवत् ही समझती थीं। एक बार महाराणा के एक भतीजे ने बहादुर को भोज दिया। नाच रंग की महफिल हुई। उस वक्त वेश्याओं में से एक के रूप रंग पर बहादुर ऐसा लुब्ध हो गया कि उसके अति समीप जाकर उसे घूरने लगा। मेजबान ने पूछा—"आप इसको पहचानते हैं"? उत्तर दिया—"नहीं। कहिए, यह कौन है?" कहा कि यह अहमदनगर के काजी की बेटी है। जब वह नगर विजय हुआ, तब काज़ी तो मारा गया और उसकी बहू बेटियों को राजपूत कैद कर लाए थे। यह सुनते ही बहादुर के कोप का पार न रहा। तुरंत तलवार खींचकर महाराणा के भतीजे का मस्तक उड़ा दिया। राजपूतों ने तत्काल उसे घेर लिया; और यदि महाराणा की माता ने न बचाया होता, तो वहीं उसकी बोटी बोटी बिखर जाती। महाराणा ने भी बहादुर का अपराध क्षमा किया और फिर वह मेवात की तरफ चला गया। यह वही बहादुर था जो फिर बहादुर शाह बनकर गुजरात के तख्त पर बैठा था, और जिसने हिंदूपति के उस अनन्य उपकार का बदला परम कृतघ्नता के साथ दिया। सच है, कृतघ्नों पर दया करने का परिणाम विषैले नाग को पालकर दुग्ध पान कराने के तुल्य है। मुजफ्फर शाह के तीसरे और चौथे पुत्र लतीफ और चाँदखाँ के साथ भी सिकंदर वैसा ही द्वेष रखता था

जैसा कि बहादुर के साथ; इसलिये उसके बादशाह बनते ही उन दोनों का भी जीना दूभर हो गया। महाराणा साँगाजी के सिवा उस वक्त और कोई ऐसा शक्तिशाली नहीं था जो उनकी रक्षा कर सकता; इसलिये वे दोनों भी उन्हीं के पास आकर शरणागत हुए। सिकंदर शाह ने मलिक लतीफ (शरजखाँ) नामी अपने सेनापति को सेना सहित उनकी गिरिफतारी के लिये भेजा। परंतु सबल का शरणागत सहज में कब हाथ आता है। किसी कवि ने कहा है—"केहर केस भुयंग मिण शरणागत सबलेस"। "सती दान अरु कृपणधन पड़सी हाथ मुवाँह।" महाराणा ने अपने एक सामंत को मलिक लतीफ के मुक़ाबले पर भेजा। युद्ध में अपने १७०० योद्धाओं सहित लतीफ खेत पड़ा, और शेष सेना कठिनता के साथ गिरती पड़ती गुजरात पहुँची।

पहले लिख आए हैं कि इबराहीम शाह लोदी के शासन काल में कई पठान सामन्तों के स्वतंत्र बन बैठने से परस्पर के वैर-वैमनस्य, लड़ाई-झगड़े और अशान्ति की आग खूब भड़क रही थी। उस वक्त लाहौर के सूबेदार दौलतखाँ लोदी ने मुगल वंश के जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाह को काबुल से हिंदुस्तान में बुलाया। इसके पहले भी वह पंजाब तक आया था; परंतु समय अनुकूल न होने से लौट गया था। वह अपनी दिनचर्य्या में लिखता है—"महाराणा साँगा ने भी मेरे पास सँदेसा भेजा था कि यदि आप हिंदुस्तान में आकर दिल्ली का राज्य लें, तो मैं इबराहीम शाह से आगरा ले सकता हूँ; और वही हम दोनों के राज्य की सीमा रहे।" इसके अतिरिक्त इबराहीम शाह के काका अलमखाँ या अलाउद्दीन ने भी काबुल जाकर उसका ध्यान इस बात पर आकर्षित किया था कि वह दिल्ली का तख्त अलम को दिलवाने में सहायक हो, जिसके बदले में पंजाब का सारा प्रदेश उसको दिया जायगा। बाबर ने अलमखाँ

को भी अपने सेनापति द्वारा सहायता पहुँचाई; परंतु अलम युद्ध में इबराहीम शाह से हार गया। अंत में बाबर ने देखा कि भारत में फूट का प्रबल राज्य हो रहा है, और यह समय उधर जाने के लिये अति ही अनुकूल है। वह केवल १२००० सवारों को साथ ले सिंधु नद उतरा। दिल्ली तक पहुँचते पहुँचते उसकी सैन्य-संख्या सत्तर सहस्र तक पहुँच गई। पानीपत के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र में ता० २९ अप्रैल सन् १५२६ को इबराहीम शाह लोदी के साथ युद्ध हुआ। इबराहीम शाह मारा गया, उसकी फौज परजित होकर भागी और बाबर दिल्ली में तख्त पर बैठा।

यहाँ थोड़ा सा वर्णन बाबर के पूर्व जीवन चरित्र का इसलिये करना उचित समझता हूँ कि उसके पढ़ने से पाठकों को निश्चय हो जाय कि दृढ़ता के साथ आपत्तियों का मुकाबला करनेवाले शूरवीर और साहसी पुरुषों को परमात्मा पर भरोसा रखकर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ काम करने से परिणाम में सफलता होकर उनका अभ्युदय होता ही है। बाबर भी कर्मवीर और आपत्तियों की शाला में सबक़ लेकर धीर, गम्भीर और पक्का अनुभवी हो गया था। नेपोलियन बोनापार्ट की नाईं उसके कार्य्य-कोष में भी "असम्भव" शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता। मातृपक्ष में बाबर का सम्बन्ध प्रसिद्ध और प्रचण्ड तातारी सरदार चंगेज़ खाँ से था; और पितृपक्ष में वह उमर शेख मिर्जा का पुत्र और अमीर तैमूर के प्रपौत्र का बेटा था। ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में वह फर्गाने के राज-सिंहासन पर बैठा। उसकी राजधानी जैहून नदी के तट पर अंदजान थी। बालक के राज्य से लाभ उठाकर समरकंद के अमीर अहमद मिर्जा ने अपने साले से मिलकर अपने भतीजे बाबर का राज्य छीन लेने के प्रयत्न किए, परंतु उसके स्वामि-भक्त सामन्तों ने उसे बचा लिया। पंद्रह वर्ष की अवस्था में बाबर ने समरकंद विजय किया, जो तैमूर

लंग की प्राचीन राजधानी था। तब फर्गाना के अमीरों ने चाहा कि वहाँ का राज्य बाबर अपने छोटे भाई जहाँगीर मिर्जा को दे दे; परंतु उसने यह बात नहीं मानी। जहाँगीर मिर्जा ने अंदजान ना घेरा। बाबर उसके बचाव के वास्ते समरकंद से चढ़ा; परंतु वह तो उसके पहुँचने के पहले ही फतह हो चुका था और इधर अवसर पाकर समरकंद भी शत्रुओं ने ले लिया। इस तरह उसके हाथ से दोनों राज्य निकल गए। फिर उसने अनेक बार उन्हें विजय किया और अनेक बार समरकंद फिर छिन गया। एक दिन तो बाबर बादशाह बनकर तख्त पर बैठ जाता और दूसरे दिन राज पाट छिन जाने से उसे जंगल-पहाड़ों में हैरान और परेशान छिपे फिरना पड़ता था। वह उन्नीस वर्ष का था, जब अपने चाचा सुलतान अहमद मिर्ज़ा की शरण गया। उसने देखत के परगने में उसको टिकाया। वह एक गाँव के मुखिया के घर में रहता था। दरिद्रता ने उस पर अपना अधिकार यहाँ तक जमा लिया था कि उसे प्राय: पैदल नंगे पाँव चलना पड़ता था। उस मुखिया की बूढ़ी माता का कोई सम्बन्धी अमीर तैमूर के साथ हिन्दुस्तान में गया था। उसकी ज़बानी सुनी हुई इस देश की विचित्र कथाएँ वह बुढ़िया बाबर से कहा करती थी। नाना प्रकार के कष्टों का सामना करते करते जब वह थकता गया तब उसने विचार किया कि ऐसे दु:खदायी जीवन से तो एकान्त-सेवी होकर रहना ही अच्छा है। परन्तु उसका पराक्रम और पुरुषार्थ उसे सदा यही शिक्षा देता कि "बाबर, घबरा मत! धैर्य्य धारण कर। परिश्रम-पूर्वक उद्योग किए जा। उसका फल अच्छा ही मिलेगा।" निराश होकर आलसी जीवन बिताना तो उसे एक आँख भी नहीं भाता था। जब वह अपने चाचा के साथ तम्बल नामक सरदार पर चढ़कर गया, तब अन्दज़ान फिर उसके हाथ आ गया था। परन्तु तम्बल ने तुरन्त ही

आ दबाया। युद्ध में एक तीर उसकी जाँघ में लगा और शत्रु की तलवार का एक हाथ इस ज़ोर से उसके मस्तक पर गिरा कि यदि लोहे के टोप से बचाव न हुआ होता तो वह यमलोक में पहुँच जाता। तिस पर भी उस प्रहार ने उसको मूर्च्छित कर दिया। किसी प्रकार वहाँ से प्राण बचाकर भागा। यार-दोस्तों और सेवकों ने साथ छोड़ दिया और वह अकेला रह गया। दुश्मन पीछे पड़े हुए थे। दैव दैव करके उनसे बचता, डाकू की तरह बनों और पर्वतों में ख़ाक छानता फिर फ़रग़ाने की तरफ़ मुड़ा। एक वर्ष इसी तरह भटकते और आपत्तियों पर आपत्तियाँ उठाते बीता। तब निपट निराश होकर उसने स्वदेश को तिलांजलि दी और थोड़े से साथियों सहित काबुल का मार्ग पकड़ा। मार्ग में कई काफ़िले उसके साथ हो लिए और सन् १५०४ ई० में काबुल विजय कर वहाँ का बादशाह बन गया।

बाबर के परम शत्रु शैबानी ने जब बलख़ जा घेरा, तब वहाँ के शासक सुलतान हुसैन मिर्ज़ा ने बाबर को अपनी सहायता के निमित्त बुलाया था। वह भी सेना सजकर चला। परन्तु मार्ग में ख़बर मिली कि बलख़ तो शैबानी ने ले लिया है। तब हिरात होता हुआ काबुल को लौटा। इधर उसके जाते ही उपद्रव उठ खड़ा हुआ था। क़न्धार विजय कर उसने अपने भाई उमर मिर्ज़ा को दिया। परन्तु जब शैबानी ने सुना कि शत्रु काबुल को गया है, तो उसने क़न्धार आन घेरा। इससे बाबर को इतना भय हुआ कि अब उसने वहाँ भी अपना टिकाव होना दुष्कर जान सिन्धु नद की ओर प्रयाण किया। मार्ग में असभ्य अफ़ग़ानों ने उसको बहुत सताया। परन्तु उनसे लड़ता भिड़ता वह जलालाबाद पहुँचा। वहाँ यह सुना कि शैबानी फिर तुर्किस्तान को लौट गया है। तब वहीं से मुड़कर मुग़लों की सहायता से उसने काबुल फिर ले लिया। ईरान के शाह

इस्माईल सफवी ने मर्व के मुक़ाम पर शैबानी से युद्ध कर उसे पराजित किया और शत्रुओं के भय से वह एक मकान से नीचे कूदने में मर गया। जब खान मिर्ज़ा ने बाबर को इसकी सूचना दी, तब तत्काल चढ़ाई कर उसने समरकंद, बुखारा, फर्गाना आदि खोए हुए स्थानों पर फिर अधिकार कर लिया। परन्तु फिर भी वह बहुत दिनों तक वहाँ ठहर न सका। ईरान के शाह को प्रसन्न करने के निमित्त वह ईरानी पोशाक पहनने लग गया था और अपनी सेना को भी वैसे ही वस्त्र और ईरानी टोपी पहनने की आज्ञा दी थी। सैनिक सब सुन्नी मुसलमान थे। उनको यह बहुत ही बुरा लगा। उज्बकों के दल ने बुखारा घेर लिया और बाबर को समरक़ंद छोड़कर भागना पड़ा। हिसार पहुँचकर उसने ईरान के शाह से सहायता माँगी और ईरानी सेना आई भी; परन्तु यज़्देवन के युद्ध में ईरानियों की हार हुई और बहुत से मारे गए। तब लाचार समरकंद को त्याग कर बाबर फिर काबुल में आया और कुछ समय तक सुखपूर्वक रह कर राजप्रबंध में सुधार करने लगा। दो एक बार पंजाब तक आकर वापस फिर गया था। अन्त में सन् १५२२ ई. में क़न्धार विजय कर सन् १५२६ ई. में दिल्ली आया और इब्राहीम शाह लोदी को युद्ध में मारकर उसका तख्त-ताज छीन लिया।

पानीपत के तुमुल संग्राम में विजय लाभ कर दिल्ली और आगरा हाथ आ जाने पर भी बाबर को यह भली भाँति विदित हो गया कि एक लोदी शाह को जीत लेने ही से मैं भारत का सम्राट् नहीं बन सकता; क्योंकि राणा साँगा जैसा प्रबल शत्रु मेरे पड़ोस में मौजूद है। अतएव किसी प्रकार बयाने के गढ़ पर अधिकार कर लेना चाहिए। आगरा तो उस वक्त बयाने का परगना मात्र था। बयाने में महाराणा की तरफ से निज़ामखाँ शासन करता था। साँगाजी ने वह गढ़ इब्राहीम शाह से छीना था। महाराणा का चाकर होते हुए

भी निज़ाम का आन्तरिक भाव द्वेष या और किसी कारण से शुद्ध नहीं था; इसलिये वह बाबर और साँगाजी दोनों के साथ कपट क्रिया करने लगा। बाबर को तो कहता कि मैं साँगा का सामन्त हूँ; और महाराणा को बतलाता कि आपका आज्ञा-पालन करने में बाबर बाधा डालता है। अन्त में जब उसने देखा कि साँगाजी के सन्मुख होकर बयाना रख लेने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है, तब वह गढ़ बाबर को सौंप दिया और बदले में दुआब में जागीर पाई। तब तो निज़ाम को दण्ड देकर गढ़ को बचाना और तातारियों और पठानों को हिन्द से बाहर करना ठान साँगा जी बयाने की ओर बढ़े। इस गड़बड़ी के समय में पूर्वी अफ़ग़ानों ने बाबरख़ाँ लोहानी को सुलतान महमूद शाह के लक़ब से बादशाह बना बिहार में तख़्त पर बैठा दिया था; और पश्चिम में अलवर के नव्वाब हसनख़ाँ मेवाती ने इब्राहीम शाह लोदी के भाई महमूद लोदी का पक्ष लेकर महाराणा साँगा की सर-परस्ती में मुग़ल से लड़ना निश्चय किया था। बाबर ने शाहज़ादा हुमायूँ को पूर्वी पठानों का बल तोड़ने के वास्ते भेजा था। परन्तु जब उसने सुना कि राणा साँगा बयाना लेने को बढ़ा आता है, तो हुमायूँ को वापस बुला लिया। वह जौनपुर जीत कर आगरे में पिता से आ मिला। हसनख़ाँ को अपनाने के वास्ते बाबर ने यह उपाय किया कि उसके बेटे नाहरख़ाँ को, जो पानीपत के युद्ध में बन्दी हो गया था, मुक्त कर अपने पिता के पास भेज दिया और उसके साथ एक भारी ख़िलअत हसनख़ाँ के वास्ते भेजकर कहलाया कि यदि तुम हमारे पक्ष में आ जाओ तो तुम्हारे साथ बड़ा सलूक किया जायगा। परन्तु वह वीर अपनी प्रतिज्ञा में अटल बना रहा।

मुहम्मद जैतून और तातारख़ाँ सरङ्गख़ानी को प्रलोभन देकर बाबर ने उनसे धौलपुर और ग्वालियर के गढ़ ले लिए थे; और उन्होंने

युद्ध के समय उसका साथ दिया था। ता० ११ फर्वरी सन १५२७ ई० को आगरे से प्रयाण कर मेधकपुर में मुक़ाम करता हुआ बाबर फतहपुर सीकरी में आकर ठहरा और वहाँ मोर्चे बाँधकर उनकी मजबूती करने लगा।

महाराणा साँगाजी की सेना में करीब दो लाख सवार और ५०० जङ्गी हाथी थे*। मारवाड़, आमेर, ग्वालियर, अजमेर, रायसेन, कालपी, चँदेरी, रामपुरा, आबू आदि स्थानों के राव और राजा या उनके प्रतिनिधि साँगा जी के निशान तले इकट्ठे होकर बाबर के मुक़ाबले को गए थे। महाराज की निज की सेना के अतिरिक्त भिलसा रायसेन का राजा सलहदी तँवर तीस सहस्र सवार से, महमूद शाह लोदी, जो साँगा जी की शरण आया था, दस हजार सवार से, रावल उदयसिंह बागड़ी डूँगरपुर का दस हजार सवार से, बूँदी के राव नारायणदास का आईनबंद हाडा चार हजार सवार से, चँदेरी का राजा मेदनीराय दस हजार सवार से, राव भारमल ईडरी चार हजार सवार से, हसनखाँ मेवाती दस हजार सवार से, गागरून का खीची राव शत्रुसाल छः हजार सवार से, मारवाड़ के राव रायमल राठौड़ का प्रतिनिधि राव वीरमदेव मेड़तिया और उसका भाई रतनसिंह (प्रसिद्ध मीराबाई का पिता। मीराबाई का विवाह साँगाजी के बड़े पुत्र भोजराज के साथ हुआ था जो अपने पिता की विद्यमानता ही में काल-कवलित हो गया था।) कुँवर कल्याणमल बीकानेरी, राव बाघसिंह देवलिये का, नरसिंह देव, रावल देव, राव चन्द्रभाण, माणकचन्द्र चौहाण और राय दिलीप आदि दूसरे भी कई राव तथा राजा अपनी अपनी सेना समेत इस युद्ध में शामिल थे।

---

* अब्बुलफजल अपना पुस्तक अकबरनामे में राणा की सैन्य संख्या दो लाख दस हजार सवार बतलाता है; तबक़ाते अकबरी का रचयिता एक लाख बीस हजार कहता है; तुजुकेजहाँगीरी में शाहंशाह जहाँगीर एक लाख अस्सी हजार गिनाता है और मआसिरलउमरा का कर्त्ता एक लाख लिखता है।

इस युद्ध का सविस्तर वर्णन बाबर ने अपने रोज़नामचे "वक़ाये बाबरी" में लिखा है। उसको संक्षेप में मैंने यहाँ उद्धृत किया है—"जब मैंने सुना कि बयाने का गढ़ राना ने ले लिया, तो मीर अख़ोर को कई बेलदार साथ देकर आगे रवाना किया कि पड़ाव की जगह कई कूएँ खुदवाए। हिरोल का सरदार अबदुल अज़ीज़ बिना विचारे खानवे तक बढ़ गया जो सीकरी से पाँच कोस है। राना पहले ही कूच कर चुका था। जब सुना कि मुसलमान आगे बढ़ आए हैं तो चार पाँच हज़ार राजपूत उन पर टूट पड़े। अबदुल अज़ीज़ और मुल्ला अयाक के पास केवल हज़ार पंद्रह सौ आदमी थे। शत्रु-दल के बल का अन्दाज न करके उन्होंने लड़ाई छेड़ दी। जब यह ख़बर मुझे मिली तो मैंने ख़लीफा मुहब्बत अली और मुल्ला हुसैन को सहायतार्थ भेजा। परन्तु इनके पहुँचने के पहले ही शत्रुओं ने अब्दुल अज़ीज़, मुल्ला निआमत दाऊद और उसके छोटे भाई और अयाक आदि को उनके साथियों समेत मार डाला था।" उनकी कुमक पर जो सेना गई, उसकी भी वही गत हुई। थोड़े से बचे बचाए सवार सिपाहियों ने भागकर इस घटना का समाचार बाबर के कटक में पहुँचाया। मिस्टर एर्सकिन् अपने भारत के इतिहास में लिखता है—"राजपूतों के साथ होनेवाली मुग़लों की दो एक चटापटी की लड़ाइयों में मुग़लों पर बेतरह मार पड़ने से वे अपने नवीन शत्रु को आदर मान की दृष्टि से देखने लग गए थे। हिरोल की टुकड़ी में से प्राण बचाकर भागे हुए आदमियों ने मुक्त कण्ठ से शत्रु की शक्ति और वीरता का राग अलापना आरम्भ कर दिया था। वास्तव में तातारियों को यह निश्चय हो गया कि इस बार हमें ऐसे शत्रु के सन्मुख होना है जो पठानों या भारत की किसी दूसरी जाति की अपेक्षा—जिन पर हमने आज तक विजय पाई—विशेष भयङ्कर है। राजपूत अपने पुरुषार्थ, शौर्य्य, युद्ध-प्रियता और रक्त-पात के सूत्र में रँगे हुए, अपनी अचल

जातीय प्रकृति से उत्साहित और एक वीर शिरोमणि की अध्यक्षता में युद्ध करने से कट्टर से कट्टर शत्रु के सन्मुख होकर प्राण निछावर कर देने को तैयार थे।"

बाबर लिखता है—"पानी की बहुतायत देखकर मैंने पड़ाव डाला, और मोर्चेबंदी कर अपनी तोपों को जकड़कर बँधवा दिया। तोपखाने के अफसर मुस्तफा रूमी (कहीं उस्ताद कुलीखाँ भी नाम दिया है) ने रूम की लड़ाई के ढंग पर तोपखाना जमाया; और जहाँ तोप न पहुँच सकी, वहाँ गहरी खाइयाँ खुदवा दीं। शुरू ही में शिकस्त मल जाने से मेरी सेना बे-दिल सी हो गई थी। छोटे और बड़े सब के हृदय में भय छा गया था। एक भी ऐसा पुरुष नहीं था जो दिलेरी के शब्द तक जबान से निकाले, या किसी प्रकार की हिम्मत बँधावे। मेरे वज़ीर, जिनका कर्तव्य था कि भली सम्मति देते, चुपसाध बैठे थे; और अमीर, जो राज्य की संपत्ति का भोग करके चैन उड़ाते थे, वीरता की बात तक न करते थे और न कोई ऐसी सलाह देते या मुद्रा धारण करते थे जो शूर-वीरों के योग्य हो। कई उमरा तो कहने लगे कि इस अवसर पर फिर पंजाब में चले जाना उचित है। फिर किसी मौके पर देखा जायगा। इसी बीच में काबुल से क़रीब ५०० आदमी आए जो ऊँटों पर बहुत सी शराब लादकर लाए थे। उनके साथ मुहम्मद शरीफ नामक एक अभागा ज्योतिषी भी था जिसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि अभी मंगल पश्चिम में है; उस तरफ लड़नेवाले की अवश्य हार होगी। इससे मेरी सेना की रही सही हिम्मत और भी टूट गई"।

जब बाबर ने इस तरह अपने दल को हतोत्साह देखा, तब उसको बहुत चिन्ता हुई। मंगल के अमंगल की ओर तो उसने कुछ भी ध्यान न दिया, परंतु सैनिकों की निराशा और क्षत्रिय दल की प्रबलता ने उसको महान् चिन्ता-सागर में डुबा दिया। एक मास

के लगभग वह सेना सहित मोर्चों में बंद हुआ बैठा रहा। वह एक महान् अनुभवी और उद्योगी पुरुष था। वह जानता था कि राणा साँगा ने भी मेरे ही समान मुसीबत के मदरसे में सबक़ सीखा है। उस पर विजय पाना कुछ हँसी ठट्ठा नहीं है। इस पर भी फौज की उत्साह-हीनता ने उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। वह खूब जानता था कि यदि इस वक्त मैं लड़ाई से किनारा कर गया, तो फिर दुश्मन की ताक़त दुगुनी हो जायगी; और जितनी मेहनत या मुसीबत मैंने उठाई या जितना समय मैंने इस मुल्क के फतह करने में लगाया है, वह सब निरर्थक जायगा। अतएव युद्ध करने में थोड़ी ढील डालकर वांछित सफलता प्राप्त करने का उचित उद्योग करना चाहिए। अपने इस अभिप्राय को पूरा करने के वास्ते उसने मुख्य दो उपाय सोचे—एक तो शत्रु से सन्धि की बात चीत चलाकर उसके तात्कालिक आवेश और अनन्य उत्साह को थोड़ा शिथिल कर देना; और दूसरे अपने योद्धाओं में धार्मिक जोश पैदा करना। अपने प्रथम प्रयत्न को पूरा करने के वास्ते उसने भिलसा रायसेन के राजा सलहदी तँवर को, जो महाराणा के मुख्य सामंतों में से था, चुना और उसी के द्वारा अपनी कपट-क्रिया चलाई। सन्धि की शर्तों में कर्नल टाड के लेखानुसार उसका प्रस्ताव यह था कि बयाना के पास पीलेखाल तक महाराणा के राज्य की सीमा रहे। यदि वे दिल्ली के राज्य में किसी प्रकार का उपद्रव न करें तो उसके बदले में क्षति-पूर्त्ति के तौर पर वार्षिक कुछ धन दिया जायगा। परंतु अपने अन्य सामंतों की सलाह से, जिन में कई सलहदी के विरोधी भी थे, महाराणा ने इन शर्तों को न माना। कर्नल टाड कहता है कि अपने इसी अपमान के लिये सलहदी ऐन लड़ाई के मौके पर अपनी तीस सहस्र सेना सहित बाबर से जा मिला था।

अपने दूसरे उपाय को सिद्ध करने के वास्ते उसने सोचा कि जब तक मैं आप अपने किसी कुचरित्र के सुधार को आदर्श रूप से स्वजनों के

सन्मुख न धरूँ, तब तक उनके हृदय में धर्म-पथ पर अटल और दृढ़ बने रहने की छाप जमा देना दुष्कर है। इसलिये उसने अपने उमरा और अफसरों को एकत्र कर कहा—"हमें अपने पापों को त्याग कर पश्चात्ताप करना चाहिए। जब हम पवित्र हो जायँगे तब अवश्य हमारी जीत होगी"। यह कहकर शराब पीने का प्याला, जो हर वक्त उसके मुख से लगा रहता था, फेंक दिया और सब के सामने शपथ ली कि अब मैं शराब कभी न पाऊँगा। मद्यपान-संबंधी जितना सोने-चाँदी का सामान था, सब तुड़वाकर गरीबों को बाँट दिया और जो शराब साथ में थी, उसमें नमक मिलाकर सिरका बना डाला या उसे पृथ्वी पर उँडेल दिया और तत्काल इस आशय का आज्ञापत्र निकाला—"इंद्रियों के वशीभूत होकर मैंने जवानी के दिनों में कई काम शरह के खिलाफ किए, जैसा कि राजा बादशाह प्रायः किया करते हैं। परंतु जब होश आया तो तोबा कर उनसे किनारा कर लिया। यह शराब जो इस वक्त तक मुझसे नहीं छुटी थी, आज इस मुबराक मौक़े पर छोड़ता हूँ जब कि मैं एक काफिर का मुकाबला करने को हूँ। मैंने अपने तमाम मुल्क में मुनादी करा दी है कि आइन्दा कोई शराब न पीए, न उसे बनावे, न बेचे, न खरीदे, न अपने पास रक्खे, न कहीं से लावे।" * शराब के साथ ही बाबर ने डाढ़ी कटाने की भी क़सम खाई। जहाँ शराब उँडेली गई थी, उस स्थान पर यादगार के वास्ते एक कूआँ खुदवाकर धर्मशाला बनवाई। बादशाह के साथ छः सौ सरदार सिपाहियों ने शराब छोड़ी। उसी वक्त उसने अपनी सेना को यह वक्तृता कह सुनाई:—"ऐ मेरे सरदारो और सिपाहियो!

* जब सोभराज साल्व श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारका पर चढ़ आया था, तब यदुवंशियों ने भी मद्यपान का परित्याग कर उसके साथ युद्ध किया था। यदि यदुवंशी अपनी उस प्रतिज्ञा पर अटल बने रहते तो प्रभास क्षेत्र के विप्लव से बच जाते। कितनी उत्तम बात हो कि भारतीय क्षत्रिय गण बाबर की इस कार्रवाई से शिक्षा ग्रहण कर; मदिरा राक्षसी को मुख से निकलने का प्रयत्न करें।

जो आदमी इस दुनिया में आया है, वह जरूर एक दिन जायगा। अमर एक परमात्मा की ज़ात है। जो जीवन के दस्तरख़ान पर बैठता है, भोजन से तृप्ति होने के पूर्व ही मौत का प्याला उसे पीना पड़ता है। इस हालत में बदनामी के साथ जीने से इज्ज़त के साथ मरना अच्छा है। उस पाक परवर्दिगार की कृपा से आज यह दिन हम को नसीब हुआ है। यदि मैदान जङ्ग में जान गई तो शहीद कहलावेंगे; और जो जीते रहे तो अपने पाक दीन के वास्ते जाँ-निसार होने की पदवी पावेंगे। इसलिये सब एक दिल होकर कलाम पाक की कसम खा लें कि हममें से कोई लड़ाई से मुँह मोड़ने का ख़याल तक दिल में न लावेगा"। बाबर की यह हिकमत कारगर हो गई। तीर निशाने पर जा लगा। सब ने मिलकर शपथ ली और कुरान उठाया कि मर जायँगे, परंतु पीठ कभी न दिखलावेंगे। बस उसी वक्त वह बड़ी प्रसन्नता के साथ शत्रु पर धावा करने को मोर्चों से बाहर निकल आया।

मिस्टर अर्स्किन लिखता है—"बाबर के मोर्चों में बंद हो जाने से चारों ओर बग़ावत का ढोल बज गया। जिन देशों और दुर्गों को उसने बड़े परिश्रम के साथ विजय किया था, वे उसके अधिकार में से जाने लग गए, और आगरे के आस पास के प्रदेशों को अफगानों ने फिर ले लिया। उसकी सेना को कन्नौज छोड़ना पड़ा, और ग्वालियर को भी राजपूतों ने घेर लिया। कई हिंदू राजाओं ने उसका पक्ष त्याग दिया और हिंदू जाति को आशा बँध गई कि अब दिल्ली का तख़्त उलटनेवाला है।"

ता० १३ जमादिउल आख़िर सन् ९३३ हि० (ता० १२ मार्च सन् १५२७ ई० या चैत्र सं० १५८४ वि०) * को बाबर ने अपने पड़ाव से

* मिस्टर ब्रिग ने फरिश्ता के अंगरेज़ी तर्जुमे में ता० २१ मार्च सन् १५२६ ई० को, और कर्नल टाड ने सं० १५८५ वि० कार्तिक शुक्ल पंचमी को यह युद्ध होना लिखा है। मोहणोत नेणसी की ख्यात भी इसी की पुष्टि करती है।

दो मील आगे बढ़कर अपनी फौज का परा जमाया। वह आप बीच में रहा; दाहिनी तरफ शाहज़ादा हुमायूँ और बाईं ओर सैय्यद महदी ख्वाजा बाबर का जमाई था। एक बड़ी टुकड़ी को कुमक के लिये जुदा रक्खा, दाहिने बाएँ मुगल सवारों की दो टुकड़ियाँ जमाईं, आगे तोपखाना, पीछे बन्दूकची और उनके पीछे सवार थे। महाराणा भी सज सजाकर रण क्षेत्र में आ उपस्थित हुए। उनके कटक में राजा राव कमान पर थे।

बाबर ने अपनी सेना में सख्त हुक्म जारी कर दिया था कि जब तक मैं न कहूँ, कोई सिपाही अपनी जगह से न हिले; क्योंकि एक दम से आगे बढ़ जाने में बड़ा भय था। प्रभात के साढ़े नौ बजे से युद्ध का आरम्भ हुआ। राजपूतों ने तुर्कों के दाहिने पार्श्व पर हमला किया। मुस्तफा रूमी उन पर गोले बरसाने लगा जिससे उनको बहुत नुकसान पहुँचा। बाईं ओर भी वे धावा करके टूट पड़े। इस प्रकार कई घण्टों तक तीर-तलवार और छुरी-कटार का बाजार खूब गर्म रहा। महाराणा सेना के मध्य में अपने राजचिह्न छत्र छंगी आदि धारण किए गजारूढ़ अपने योद्धाओं को उत्साहित करते और उनकी वीरता का निरीक्षण करते थे। बाबर ने पार्श्व की फौज व सवारों को हुक्म दिया कि घूमकर हमला करें; और साथ ही तोपखाने और बन्दूकचियों को भी बढ़ाया, यहाँ तक कि वे राजपूत दल में दूर तक जा घुसे। चारों ओर से अरि को उमड़ आते देखकर राजपूत योद्धा विचलित हो गए और उनकी सेना का मध्य भाग हिल गया। पार्श्व पर हमला होने से पीछे हटने के कारण बीच में भीड़ हुई और सारी रचना बिखर गई। महाराणा के ललाट में अचानक एक तीर के आ लगने से उनको किंचित् मूर्छा सी आ गई; अतएव स्वामि-भक्त सामन्तों ने एक पालकी में उनको लिटाकर रणक्षेत्र से हटा मेवात की ओर भिजवा दिया, और सलूँबर के राव

रत्नसिंह को उनका स्थान लेने को कहा। रावत ने उत्तर दिया कि मेरे पुरखा ने अपना स्वत्त्व होते हुए भी राज-पद का त्याग कर दिया। अतएव अब मैं उसे ग्रहण नहीं कर सकता। परंतु जो कोई महाराणा के गज पर सवार होकर राजचिह्न धारण करेगा, उसकी आज्ञा का पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझूँगा; और जब तक मेरे तन में रक्त की एक बूँद भी रहेगी, शत्रु को कभी अपनी सफ में न घुसने दूँगा। तब सन् १५२० ई० में काठियावाड़ के हलवद प्रान्त से महाराणा साँगा जी की सेवा में आए हुए बड़ी सादड़ी के राजराणा अज्जा को छत्र छंगी सहित महाराणा के स्थान पर नियत किया गया। तभी से यह जनश्रुति प्रसिद्ध हुई—"सादड़ी सुलतान झालो दूसरो दीवाण"। राजपूत बराबर लड़ते रहे, परंतु थोड़ी ही देर में यह प्रवाद विद्युत् की भाँति सारी सेना में फैल गया कि महाराणा घायल हो जाने के कारण युद्ध-क्षेत्र से दूर भिजवा दिए गए हैं। यह निश्चय होते ही क्षत्रिय राजाओं की एकता का वह सूत्र ढीला पड़ गया; और कइयों ने तो यह विचार कर कि अब दीवाण युद्ध में नहीं है, रणक्षेत्र से मुख मोड़ लिया। संध्या समय तक युद्ध चलता रहा। अंत में अपने शूर वीर सेना-नायकों और सरदारों के खेत पड़ने से राजपूतों के पग पीछे हट गए। बाबर ने डेरों तक उनका पीछा किया और अपने सवारों को पुकार पुकारकर कहने लगा कि काटो! काटो! ये फिर इकट्ठे होकर धावा न करने पावें। युद्ध स्थल में कोसों तक मुर्दों के ढेर पड़े थे, घायल कराह रहे थे और लोथों पर लोथें गिरी हुई थीं। हसनखाँ मेवाती गोली लगने से मरा; राव चन्द्रभाण और माणकचन्द चौहाण, रावल उदयसिंह बागड़ी, सलूँबर का राव रत्नसिंह, मारवाड़ के राव का पुत्र रायमल राठौड़, रत्नसिंह मेड़तिया, सोनगिरा राव रामदास, झाला अज्जा, गोकुलदास पँवार और दूसरे अनेक वीरों ने अप्सराओं को वरण किया। बाबर ने अफसोस के

साथ कहा कि यदि मैं स्वयं महाराणा का पीछा करता और यह काम दूसरों के भरोसे न छोड़ता, तो राणा का बचकर जाना कठिन था। एक टीले पर उसने मुर्दों के मस्तकों का बुर्ज बनवाया, और इस फतह के पीछे वह अपने नाम के साथ "गाजी" शब्द लिखने लगा। जिस ज्योतिषी ने बाबर को हार होना प्रकट किया था, जब वह विजय की मुबारकबादी देने को उसके सामने आया, तो पहले तो उसे बहुत फटकारा; परंतु फिर एक लाख टंका (लगभग ९ हजार रुपए) पारितोषिक में देकर अपने राज्य में से बाहर करवा दिया और आप मेवात फतह करता हुआ आगरे पहुँचा।

पाठकगण! वह बीसवीं शताब्दी का साइन्स (विद्या या विज्ञान-बल) का युद्ध नहीं था कि वर्षों तक छल बल द्वारा चलता रहता। वहाँ तो रणचण्डी ने तीन ही प्रहर में हजारों रुण्ड मुण्ड रहित कर दिए। आनन फानन् निपटारा होकर हिंदुओं की सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर गया।

साँगा जी के पराजय का कारण कर्नल टाड ने ख्यातों अथवा प्रसिद्ध जन-श्रुति के अनुसार सलहदी तँवर का विश्वासघात कर शत्रु से मिल जाना बतलाया है। यद्यपि बाबर ने अपने रोजनामचे में ऐसी घटना होने का उल्लेख नहीं किया, जिससे कई आदमी इसमें सन्देह करते हैं, तथापि समय टालने को सलहदी के द्वारा बाबर का सन्धि-विषयक प्रस्ताव कराना सम्भव है। और आश्चर्य्य नहीं कि उस ने महाराणा का साथ छोड़ने के निमित्त सलहदी को अन्यान्य प्रलोभन भी दिए हों। ऐसे गुप्त राजनीतिक रहस्य वह अपनी पुस्तक में कब प्रकट कर सकता था! इतना तो निश्चय है कि सलहदी पहले अपनी बीस सहस्र सेना सहित महाराणा के साथ था। परन्तु उसका परिणाम क्या हुआ, यह कहीं पता नहीं चलता; और न युद्ध में पतन हुए सरदारों की जो नामावली बाबर ने दी है, उसमें सलहदी मेदनीराय आदि

मालवे प्रान्त के हिंदू राजाओं या रावों के नाम हैं। इस अवस्था में यह अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने युद्ध में यथोचित भाग न लेकर अपना कर्तव्य पालन नहीं किया। सम्भव है कि जब महाराणा घायल होकर युद्ध क्षेत्र से गए, उस वक्त सलहदी भी अपनी सेना के साथ अपने स्थान को चला गया हो। क्या यह विश्वासघात नहीं? यदि हम सलहदी और उसके वंश की समाप्ति की ओर टुक ध्यान दें तो ईश्वरी न्याय की कल्पना के आधार पर कहा जा सकता है कि सलहदी ने अपने कृत्य का उचित दण्ड पाया। उसकी पिछली कार्यवाहियों से भी सिद्ध हो सकता है कि वह स्वामिभक्त या देशभक्त राजपुत्र नहीं था; क्योंकि अपने पुराने आक़ा सुलतान महमूद मालवी के साथ भी उसने ऐसी ही चाल चली थी; अर्थात् स्वार्थसाधन के वास्ते सुलतान बहादुर शाह गुजराती से मिलकर उसे मालवा फतह करा दिया और उज्जैन तथा सारंगपुर के परगने पुरस्कार में पाए। स्वामिद्रोही का विश्वास दूसरों को कब हो सकता है, इस न्याय से अपना मतलब निकालकर उसी बहादुर शाह ने पहले तो उसको धोखा देकर क़ैद किया; फिर मुसलमान बनाया और रायसेन गढ़ के घेरे के वक्त उसे अपने भाई और बेटों को समझाने के वास्ते भेजा कि गढ़ खाली कर दें। वहाँ उसकी रानी दुर्गावती ने उसको बहुत धिक्कारा और कहा कि ऐसी निर्लज्जता के साथ जीने से तो मरना ही अच्छा है। मैं तो अपने प्राण तजती हूँ; परंतु तुम में यदि रजपूती का कुछ भी अंश हो, तो हमारा बैर लेना। यह कहकर वह वीराङ्गना ७०० स्त्रियों सहित धधकती हुई अग्नि में कूदकर भस्मीभूत हो गई। अपनी पटराणी के वचन रूपी बाणों से सलहदी का हृदय बिंध गया और वह वहीं मुसलमानों से लड़कर काम आया। उसका सारा राजपाट शत्रुओं ने छीन लिया, उसके पुत्र भूपत और पूरणमल को शेरशाह सूर ने मारा और पौत्रों को हिंजड़ा करवा दिया।

सलहदी के अलग हो जाने से तो साँगा जी को इतनी हानि पहुँची, परंतु उनकी हार का मुख्य कारण अपनी कपट क्रिया से अवसर चुकाकर बाबर का इतना फुर्सत पा लेना था जिसमें वह अपनी सेना को पुनः उत्तेजित कर सका। कर्नल टाड भी यही कहता है कि यदि संधि के प्रपंच में न पड़कर शत्रु के हरावल की टुकड़ी को काटने के साथ ही साँगा जी ने तुरंत तुर्कों के सैन्य समुदाय पर हमला कर दिया होता, तो मैदान मार लेते, और विजय-लक्ष्मी उन्हीं के कंठ में वरमाला पहनाती, क्योंकि उस वक्त शत्रु दल मारे त्रास के व्याकुल हो रहा था। परंतु सलहदी की बातों से शुद्ध-हृदय महाराणा बाबर के फेर में पड़कर यह चाल चूक गए। ऐसी कपट क्रिया के द्वारा ही सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने महाराज पृथ्वीराज चहुवाण पर विजय प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त बाबर की विजय के कारणों में एक बड़ा कारण उसका तोपखाना भी था जिसकी मार से राजपूतों को बहुत हानि पहुँची।

महाराणा साँगा जी को इस युद्ध में हार जाने से इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने रणथम्भोर जाकर एक महल में एकांत वास करना आरम्भ किया। न किसी से मिलते और न बातचीत ही करते थे। यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब तक शत्रु पर विजय न पा लूँ, तब तक चित्तौड़गढ़ में पग न धरूँगा। इसी अर्से में टोडरमल छांछल्या नामक चारण महाराणा के दर्शनों की इच्छा से वहाँ आया। कामदारों ने सारा वृत्तांत उसे सुनाकर बिदा देनी चाही; परंतु चारण बोला कि बिना दर्शन किए न मैं जाऊँगा और न कुछ लूँगा। यदि मैं एक बार दीवाण के सन्मुख पहुँच जाऊँ तो उनको महल के बाहर भी ले आऊँगा। सरदारों ने अर्ज की कि बिना दर्शन किए चारण बिदा नहीं लेता और चारण का रूठकर जाना अच्छा नहीं। आज्ञा दो कि चिक के बाहर बैठा दो। वहाँ पहुँचते ही टोडरमल ने यह गीत पढ़कर सुनाया:—

सत बार जुरासिंध आगल श्रीबर, वेमुहाटी कमदी धवग ।
मेलि घात मारै मधुसूदन, असुर घात नाँखी अलग ॥
एको भीम कुमेरौं आगल, बाँह तजेगो जूझ बल ।
पामी बेलाँ पछै पंड-सुत, खेत पछाड़े सोइ जखल ॥
हे कंर साँ अर्जुन हथणापुर, हठियो त्रिया पड़ंता हाथ ।
देख जिका कीधी दुरजोधन, पछै तिका कीधी सजपाथ ॥
राम तणी त्रया यक रावण, कंध धरेगो दस कमल ।
टीकम सो हिज पथर तारिया, जगनायक ऊँपराँ जल ॥
हेक राड़ भव माँह अवत्थी, अमर सआणै किसूँ उर ।
मालतणाँ केवा ऋणआँगण, साँगण ऊभो सेलगुर ॥

भावार्थ—श्रीकृष्ण जरासंध से कई बार हारकर भागे; अंत में उन्होंने उसे मार लिया। कौरवों से भीम कई बार पीछे हटा; परंतु फिर उनको पछाड़ दिया। ऐसे ही द्रौपदी का चीर खींचते वक्त अर्जुन कुछ न कर सका; परंतु फिर दुर्योधन के प्राण लिए। रामचंद्रजी की स्त्री को भी रावण हर ले गया, परंतु फिर उन्होंने समुद्र में पुल बाँध उसे मारा। हे साँगा ! यदि एक लड़ाई तू हार गया है, तो इतना खेद क्यों करता है ! तू तो शत्रुओं के हृदय का सेल है। यह गीत सुनते ही महाराणा बाहर निकल आए और प्रसन्न होकर चारण को बकाण गाँव बख्शा जो आज तक उसकी संतान के अधिकार में है।

उत्तेजित हुए साँगा जी फिर बाबर के साथ युद्ध करने की तय्यारी करने लगे; और जब उसने सन् १५२७ ई० में चंदेरी के राजा मेदनी राय पर चढ़ाई की, तो साँगा जी भी उधर चले और ईरिच नगर में पहुँचे। वहाँ अनायास मृत्यु के दूत ने उनको आ लिया और वैशाख सुदी (?) सं० १५८४ वि० को २१ वर्ष ५ मास और ९ दिन राज्य करके मकाम कसवा में उन वीर-शिरोमणि ने स्वर्गारोहण किया। कहते हैं

कि युद्ध से भागे हुए महाराणा के सेवकों में से किसी ने उनकी युद्ध करने की फिर तीव्र इच्छा देखकर उन्हें विष दिया जिसके प्रभाव से मृत्यु हुई।*

परम प्रतापी महाराणा की मनोकामना पूर्ण न होने पाई। शत्रुओं की बन आई। भारत का भाग्य ऐसा ही था कि इस तीसरे अंतिम संघटन में भी भारत भूमि पर क्षत्रियों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हो सका। परन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि महाराणा संग्रामसिंह जी का प्रताप और पुरुषार्थ पहले दो महाराजाओं से बढ़कर प्रशंसनीय था; क्योंकि महाराज अनंगपाल तँवर और पृथ्वीराज चहुवाण ने तो केवल अपने राज्य पर चढ़कर आए हुए शत्रु का प्रतिकार कर अपने और अपने राज्य के बचाव के वास्ते युद्ध किया था; परंतु साँगा जी तो विदेशी शत्रुओं को देश से दूर कर पुनः हिन्दू राज्य स्थापित करने के उत्कट और उन्नत अभिप्राय से चलकर शत्रु के संमुख हुए थे, न कि उसके हमले को रोकने मात्र के निमित्त। साँगा जी की मृत्यु पर किसी कवि का कहा हुआ एक प्राचीन शोकसूचक गीत है—

"ऊगाँ विण सूर पेहवो अम्बर, दीपक पाखै जिस्यां दुवार।"
"पावस बिना जेहवी प्रथमी, साँगा बिण जेह को संसार॥"
"बिण द्रिव बोम कसण जोतो बिण, धराहार बिण जिसी धर।"
"जैसी हरा जिसो जाणेवा, तो बिण प्रथमी कल्पतर॥"

---

* बाबर अपनी और अपने धर्म की महत्ता प्रकट करने के वास्ते "तुजुके बाबरी" में लिखता है— 'जब राणा ने इरीच नगर जा घेरा (जिसे बाबर ने जीत लिया था) तो एक रात कोई फकीर या पीर बड़े विकराल रूप से स्वप्न में राणा को दिखलाई दिया। उसकी भयङ्कर मूर्ति देखते ही राणा चौंक उठा और उसी वक्त उसे ज्वर हो आया। दूसरे ही दिन घेरा उठाकर सेना सहित चल दिया। परन्तु थोड़े ही दिन पीछे मार्ग ही में काल कवलित हुआ।" "चतुर्कुल चरित्र" में महाराणा साँगा जी का स्वर्गवास माघ शुक्ला ९ सं० १५८४ वि० में होना लिखा है।

"जब हर गयो दुनी जीवाड़ण, फबै नहीं दीपक फरक।"
"साहाँ ग्रहृश मोखणो साँगो, आथमियो मोटो अरक ॥"

महाराणा संग्रामसिंह जी की रानियाँ—परमारण राजा कर्मचंद्र परमार की कन्या और हाडी करमेती बूँदी के राव नारायणदास हाडा की पुत्री थीं। कुँवर भोजराज पिता की मौजूदगी में मरा था। अन्य कुमार कर्णसिंह, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह थे।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

का

कार्य-विवरण

प्रबन्ध समिति

रविवार १५ भाद्रपद १९८१ (३१ अगस्त १९२४)

समय—सन्ध्या के ६ बजे, स्थान—सभा भवन।

(१) पंडित रामनारायण मिश्र के प्रस्ताव तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह के अनुमोदन पर बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह सभापति चुने गए।

(२) गत अधिवेशन (२१ आषाढ़ १९८१) का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(३) वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ १९८१ के आय-व्यय का हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया।

(४) बाबू रूपलाल वैश्य का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि रूप निघण्टु को साफ़ कराने का काम संवत् १९८१ के वैशाख मास से ही उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। अतः उसी मास से उन्हें ३०) रु० की मासिक सहायता दी जानी चाहिए।

निश्चय हुआ कि वैशाख मास से ही उन्हें यह सहायता दी जाय।

(५) बाबू देवीदयाल का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने नेटाल के "हिन्दी" पत्र के लिये आर्थिक सहायता माँगी थी।

निश्चय हुआ कि उन्हें "नागरी प्रचार" के मद से ५०) रु० की सहायता दी जाय।

(६) क्लार्कों आदि की वेतन-वृद्धि के सम्बन्ध में उप-समिति की निम्नलिखित सम्मति उपस्थित की गई—

इस समय नीचे लिखे अनुसार वेतन-वृद्धि की जाय—

बाबू बनारसीदास	२५) से २६)
बाबू शिवप्रसाद	२५) से २६)
पं० राजकिशोर मिश्र	१८) से १६)
पंडित केदारनाथ पाठक	२०) से २२)
बाबू वागेश्वरीप्रसाद	२०) से २१)
सूबेदारसिंह	११) से १२)

आगे के लिये जिन लेखकों का कार्य और उपस्थिति दोनों ही सन्तोषजनक हों, उनके वेतन में प्रति दूसरे वर्ष २) रु० की वृद्धि की जाय जिसकी अवधि नीचे लिखे अनुसार हो—

बाबू बनारसीदास	३०) रु० तक
बाबू शिवप्रसाद	३०) रु० तक
पंडित केदारनाथ पाठक	३०) रु० तक
बाबू वागेश्वरीप्रसाद	२५) रु० तक
पं० राजकिशोर मिश्र	२५) रु० तक

निश्चय हुआ कि (क) क्लार्कों और चपरासी के वेतन के सम्बन्ध में उप-समिति का प्रस्ताव स्वीकार किया जाय (ख) पंडित केदारनाथ पाठक ने आरम्भ से अब तक सभा की अनेक प्रकार की और बड़ी बड़ी सेवाएँ की हैं। उनकी अमूल्य सेवाओं और उनके दिन पर दिन बिगड़ते हुए स्वास्थ्य का विचार करते हुए समिति यह उचित समझती है कि उनका आदर करने के लिये उन्हें उचित मासिक पेंशन देकर अवकाश दिया जाय। यह अवकाश कब से हो और कितनी मासिक पेंशन दी जाय, इस सम्बन्ध में आगामी अधिवेशन में विचार किया जाय।

(७) स्वर्ग-वासी मुंशी देवीप्रसाद जी के पौत्र बाबू पुरुषोत्तम प्रसाद गौड़ का ८ अगस्त का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने

लिखा था कि उन्हें नागरी-प्रचारिणी पत्रिका बराबर मिलनी चाहिए।

निश्चय हुआ कि बाबू पुरुषोत्तम प्रसाद गौड़ को नागरी-प्रचारिणी पत्रिका तथा देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला बराबर भेजी जाया करे। साथ ही उनसे पूछा जाय कि मुंशी देवीप्रसाद जी के पुस्तकालय की अब क्या अवस्था है और उसके सम्बन्ध में उनका क्या विचार है जिससे मुंशीजी की स्मृति चिरस्थायी हो जाय।

(८) मंत्री के प्रस्ताव पर अधिक सम्मति से निश्चय हुआ कि सिहोर के कवि गोविन्द गिल्ला भाई इस सभा के आनरेरी सभासद चुने जायँ।

(९) निश्चय हुआ कि सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के लिये "अकबरी दरबार" के भाषानुवाद तथा प्रूफ़ संशोधन का पुरस्कार प्रति डबल-क्राउन १६ पेजी फ़र्मे का १०) रु० के हिसाब से दिया जाय।

(१०) बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने सूचना दी कि वे अपने निज के काम से कलकत्ते गए थे और वहाँ सभा के लिये चन्दा एकत्र करने का भी उद्योग किया था। यदि सभा विजया दशमी के लगभग वहाँ अपना एक डेपुटेशन भेजे तो ऐसी आशा है कि बीस पचीस हजार का चन्दा प्राप्त हो जाय और कदाचित् कोई सज्जन अपने व्यय से सभा का भवन बनवा दें।

निश्चय हुआ कि विजया-दशमी के लगभग निम्नलिखित सज्जनों का एक डेपुटेशन कलकत्ते भेजा जाय:—

बाबू श्यामसुन्दरदास बी.ए.,
पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए.,
राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और
पंडित बलराम उपाध्याय एम. ए.।

(११) मंत्री ने सूचना दी कि सभा की पुस्तकें रखने के लिये भैरव बावली में जो मकान किराए पर लिया गया था, वहाँ लगभग ६५१॥) की पुस्तकें दीमकों ने खा डालीं। अतः उन्होंने ३० अगस्त

१९२४ को वह मकान खाली कर दिया और सब पुस्तकें सभा भवन में मँगवा लीं।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय और इन पुस्तकों को सभा-भवन में रखने के लिये १५०) रु० में रैक्स बनवा लिए जायँ।

(१२) पंचदश हिन्दी साहित्य सम्मेलन देहरादून की स्वागत कारिणी समिति के मंत्री का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का एक "इतिहास-पत्र" माँगा था और लिखा था कि अब से ९ नवम्बर तक पत्रिका उनके पास बराबर भेजी जाय।

निश्चय हुआ कि इतिहास-पत्र भेज दिया जाय और पत्रिका के पाँचवें भाग की पहली और दूसरी संख्याएँ भी भेजी जायँ।

(१३) हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के हेड मास्टर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि ३ सितम्बर १९२४ को उनके स्कूल में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्मोत्सव होगा। उसमें सभा अपने कुछ प्रतिनिधि भेजे।

निश्चय हुआ कि प्रतिनिधि के निर्वाचन की आवश्यकता नहीं है।

(१४) निश्चय हुआ कि सभा के पुस्तकालय में बाबू जगन्नाथ प्रसाद १२) रु० मासिक वेतन पर २३ आषाढ़ १९८१ से नियत किए जायँ।

(१५) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबन्ध समिति

शनिवार ११ आश्विन १९८१ (२७ सितम्बर १९२४)

समय—संध्या के ६ बजे, स्थान—सभाभवन।

(१) पंडित बलराम उपाध्याय के प्रस्ताव तथा बाबू कवीन्द्र-नारायण सिंह के अनुमोदन पर ठाकुर शिवकुमार सिंह सभापति चुने गए। पीछे से सभा के उप-सभापति पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय भी आ गए।

(२) गत अधिवेशन (१५ भाद्रपद १९८१) का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ ।

(३) संयुक्त-प्रदेश की गवर्नमेन्ट ने हिन्दी पुस्तकों की खोज के लिये २०००) रु० की वार्षिक सहायता मार्च १९२५ तक के लिये स्वीकार की थी। अतः आगे के लिये सहायता देने के सम्बन्ध में गवर्नमेन्ट के पास भेजने के लिये राय बहादुर बाबू हीरालाल का लिखा हुआ एक मसौदा उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि इस मसौदे के अनुसार एक पत्र गवर्नमेंन्ट की सेवा में भेजा जाय।

(४) श्रीयुत मदनलाल आचार्य्य का २३ अगस्त का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि शिक्षा-विभाग द्वारा हिंदी की जो पुस्तकें आज कल पढ़ाई जाती हैं, उनसे छात्रों को हिंदी की योग्यता नहीं प्राप्त होती। अतः सभा इसके लिये शिक्षा विभाग से पत्र व्यवहार करे।

निश्चय हुआ कि अब तक पाठ्य पुस्तकों के संबंध में सभा जो पत्र व्यवहार कर चुकी है, उसके विषय में आफ़िस के एक नोट के सहित यह प्रस्ताव आगामी अधिवेशन में उपस्थित किया जाय।

(५) बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी का ४ सितम्बर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि सभा उनके जर्नल के बदले में उन्हें अपनी सब प्रकाशित पुस्तकें तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका दिया करे।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(६) बाबू श्यामसुन्दरदास जी के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल के जो भाग अब तक सभा में आए हैं, उनकी जिल्दें बँधवा ली जायँ।

(७) निश्चय हुआ कि उपमंत्री जी से प्रार्थना की जाय कि वे कृपा कर सभा के पुस्तकालय के अँगरेज़ी विभाग की सूची ठीक कर दें और इण्डियन एण्टिक्वेरी तथा एशियाटिक सोसायटी के जर्नल

की जो संख्याएँ सभा में नहीं हैं, उनके प्राप्त करने का उद्योग करें।

(८) पंडित केदारनाथ पाठक की सभा के प्रति अमूल्य सेवाओं और उनके दिन पर दिन बिगड़ते हुए स्वास्थ्य का विचार करते हुए उन्हें कब से और कितनी पेन्शन दी जाय, यह विषय उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि इस समय यह विषय स्थगित किया जाय और आगामी वर्ष के बजट के समय यह विचारार्थ उपस्थित किया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि पाठक जी को १ भाद्रपद १९८१ से २२) रु० मासिक वेतन दिया जाय।

(९) बाबू श्यामसुन्दरदास जी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के लिखे अनुसार मूता नैणसी की ख्यात के पुरस्कार का ३००) रु० पंडित रामनारायण डूँगर को शीघ्र भेज दिया जाय।

निश्चय हुआ कि यह रुपया अक्तूबर के अंत तक भेज दिया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि "इत्सिंग" इस वर्ष नहीं छप सकता और यदि उसके लेखक चाहें तो उन्हें लौटा दिया जाय।

(१०) लक्ष्मी नारायण प्रेस के मनेजर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके लगभग ७०००) रु० के बिल सभा के यहाँ बाकी हैं और इनका रुपया उन्हें शीघ्र मिलना चाहिए।

निश्चय हुआ कि बिलों को यथा साध्य शीघ्र चुकाने का उद्योग किया जाय और जो त्रैमासिक हिसाब इस समिति में उपस्थित किया जाता है, उसमें इस प्रकार का देना सदैव दिखला दिया जाय।

(११) निश्चय हुआ कि सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के संबंध में विचार करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की एक उप-समिति बनाई जाय जो साहित्योपसमिति के साथ इस विषय पर विचार कर सभा को उचित सम्मति दे—

बाबू माधवप्रसाद	बाबू दुर्गाप्रसाद
बाबू वेणीप्रसाद	बाबू बालमुकुन्द वर्म्मा।

(१२) महाराज कुमार शाहपुरा के प्राइवेट सेक्रेटरी का १० सितम्बर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि विवेकानन्द ग्रन्थावली उनके शिष्यों द्वारा हिंदी में प्रकाशित की जा रही है। अतः सभा द्वारा अब उसके प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

निश्चय हुआ कि इस ग्रंथावली के अनुवाद के जितने अंश का पुरस्कार सभा दे चुकी है, उतने अंश का प्रकाशित कर देना उचित जान पड़ता है। इसकी सूचना महाराज कुमार को दी जाय और इस संबंध में वे जैसी आज्ञा दें, वैसा किया जाय।

(१३) मंत्री ने सूचना दी कि उन्हें सूरदास जी तथा हित हरिवंश जी के फ़ोटो सभा के लिये बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के द्वारा मिल गए हैं।

निश्चय हुआ कि इन महात्माओं के तैल चित्र बनवाने के संबंध में अगले वर्ष विचार किया जाय।

(१४) मंत्री ने सूचना दी कि डूँगरपुर की राजमाता ने कृपा कर सभा भवन के निर्माण के लिये ५००) रु० की सहायता सभा को भेजी है।

निश्चय हुआ कि इसके लिये उन्हें विशेष धन्यवाद दिया जाय।

(१५) हिंदू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रधान का २३ सितम्बर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके यहाँ एक पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च क्लास खोला गया है जिसके लिये वे सभा के पुस्तकालय से निम्नलिखित सहायता लेना चाहते हैं—(१) उनके छात्रों को सभा के पुस्तकालय में अध्ययन के लिये एक जुदा स्थान दिया जाय (२) उन्हें पुस्तकालय के अंग्रेज़ी और हिन्दी विभागों से सुलभ नियमों पर पुस्तकें दी जायँ और (३) उन्हें हस्त लिखित पुस्तकें भी देखने के लिये दी जायँ।

निश्चय हुआ कि (१) उन्हें जुदा स्थान दिया जाय (२) उनसे ३) रु० वार्षिक चन्दा लेकर तीन पुस्तकें एक साथ दी जाया करें;

पर जो पुस्तकें अप्राप्य हों वे न दी जा सकेंगी और (३) हस्त-लिखित पुस्तकें सभा में देखने के लिये दी जायँ।

(१६) अधिक समय हो जाने के कारण निश्चय हुआ कि शेष कार्य के लिये इस समिति का अधिवेशन परसों सन्ध्या के ६ बजे किया जाय।

प्रबन्ध-समिति

सोमवार १३ आश्विन १९८१ (२९ सितम्बर १९२४)

समय—सन्ध्या के ६ बजे, स्थान—सभा भवन।

(१) मंत्री ने कहा कि हिन्दी शब्द-सागर की २७ वीं और २८ वीं संख्याएँ प्रेस से छपकर आ गई हैं। पर २७ वीं संख्या में "भूमिहार" शब्द के सम्बन्ध में जो कुछ छपा है, उस पर बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह ने असन्तोष प्रकट करते हुए समिति का एक विशेष अधिवेशन करने तथा उस समय तक उन संख्याओं के प्रकाशन को रोकने के लिये लिखा है। श्रीमान् काशी-नरेश के चीफ़ सेक्रेटरी का भी पत्र आया है जिसमें उन्होंने भी इन संख्याओं का प्रकाशन रोकने के लिये लिखा है। ऐसी अवस्था में ये संख्याएँ ग्राहकों के पास भेज दी जायँ अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में उन्होंने समिति की आज्ञा माँगी।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने प्रस्ताव किया कि ये संख्याएँ ग्राहकों के पास तुरन्त भेज दी जायँ। बाबू रामचन्द्र वर्म्मा ने इस का अनुमोदन किया। बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि जब तक "भूमिहार" शब्द के सम्बन्ध में संशोधन प्रकाशित न हो जाय, तब तक ये संख्याएँ न भेजी जायँ।

बाबू माधवप्रसाद ने यह सुधार उपस्थित किया कि शब्द-सागर की २९ वीं संख्या के प्रकाशित होने पर ये संख्याएँ उसके साथ भेजी जायँ। इस सुधार का किसी ने समर्थन नहीं किया, अतः यह अस्वीकृत हुआ।

प्रस्ताव तथा विरोध पर वोट लिए गए। प्रस्ताव के लिये दो तथा विरोध के लिये एक वोट आया जिससे बाबू श्यामसुन्दरदास जी का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

(२) मंत्री ने प्रश्न किया कि बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह ने इस सम्बन्ध में समिति का जो विशेष अधिवेशन कराने के लिये लिखा है, वह किया जाय अथवा नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने कहा कि बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह से पूछा जाय कि वे अब विशेष अधिवेशन कराना चाहते हैं या नहीं। इस पर बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह ने कहा कि जब शब्द-सागर के दोनों अंकों का प्रकाशित करना निश्चय हो गया तो वे अब विशेष अधिवेशन के किए जाने की आवश्यकता नहीं समझते।

(३) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबन्ध-समिति

शनिवार १३ मार्गशीर्ष १९८१ (२९ नवम्बर १९२४)

समय—संध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन।

(१) बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह के प्रस्ताव तथा बाबू बालमुकुन्द वर्मा के अनुमोदन पर बाबू माधवप्रसाद सभापति चुने गए।

(२) मिति ११ आश्विन तथा १३ आश्विन १९८१ के कार्य-विवरण पढ़े गए और स्वीकृत हुए।

(३) श्रावण, भाद्रपद तथा आश्विन १९८१ के आय-व्यय का हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

(४) पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के सम्बन्ध में उप-समिति की सम्मति उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि इस सम्मति के अनुसार सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की एक सचित्र सूची भव्य रूप में प्रकाशित की जाय। इसकी ५००० प्रतियाँ छपवाई जायँ। समाचारपत्रों में सभा की पुस्तकों

का विज्ञापन दिया जाय, नवीन पुस्तकें २० वा २५ पत्र पत्रिकाओं के सम्पादकों के पास समालोचनार्थ भेजी जायँ, चुनी हुई पुस्तकें टेक्स्ट बुक कमेटी के पास स्वीकृति के लिये भेजी जायँ और शिक्षा विभाग के लिये उपयुक्त पुस्तकों की एक जुदा सूची छपवाकर हेड मास्टरों और डिप्टी इन्सपेक्टरों के पास भेजी जाय।

(५) बाबू मदनलाल आचार्य का २३ अगस्त का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि शिक्षा विभाग द्वारा हिन्दी की जो पुस्तकें आज कल पढ़ाई जाती हैं, उनसे छात्रों को हिन्दी की योग्यता नहीं प्राप्त होती। अतः सभा इसके लिये शिक्षा विभाग से पत्र व्यवहार करे।

निश्चय हुआ कि इस सम्बन्ध में विचार कर सम्मति देने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की उप-समिति बना दी जायः—

बाबू श्यामसुन्दरदास बी. ए.,
पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए., और
ठाकुर शिवकुमार सिंह।

(६) पंडित रामनारायण मिश्र का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि भिनगा की श्रीमती महारानी साहिबा अपने स्वर्गवासी पति की नाईं बराबर हिन्दी का प्रचार कर रही हैं; अतः वे सभा की मान्य सभासद बनाई जायँ।

निश्चय हुआ कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाय और नियमानुसार यह साधारण सभा में स्वीकृति के लिये उपस्थित किया जाय।

(७) राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि बाबू श्याम सुंदरदास जी उनकी सहायता के लिये नागरीप्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक चुने जायँ।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(८) महादेव चपरासी का ६ कार्तिक का प्रार्थनापत्र उपस्थित

किया गया जिसमें उसने बीमारी की छुट्टी के एक मास का वेतन दिए जाने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि उसे विशेष अवस्था में एक मास का वेतन दिया जाय।

(९) बारहट बालाबख्श जी के पत्र उपस्थित किए गए जिनमें उन्होंने लिखा था कि स्वार्गवासी मुंशी देवीप्रसाद जी के स्थान पर कविराजा मुरारिदान जी बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला ट्रस्ट के ट्रस्टी नियत किए जायँ और क्षत्रियों तथा चारणों के डिंगल ग्रंथों के अतिरिक्त यदि कोई प्राचीन ग्रंथ डिंगल या पिंगल का चमत्कारमय हो तो वह भी चारण पुस्तकमाला में छापा जाय।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(१०) बाबू सत्यजीवन वर्म्मा का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने अपने पिता बाबू जगन्मोहन वर्मा के देहांत की सूचना दी थी और लिखा था कि सभा के जो काम बाबू जगन्मोहन वर्मा के यहाँ हैं, उन्हें वे पूरा कर देंगे। इस समय इन कामों के हिसाब में सभा उनकी आर्थिक सहायता करे।

निश्चय हुआ कि बाबू जगन्मोहन वर्म्मा का जितना पुरस्कार बाकी है, वह बाबू सत्यजीवन वर्म्मा को दे दिया जाय। जो कार्य अपूर्ण रह गए हैं, उन्हें पूरा करने के संबंध में साहित्योपसमिति विचार करेगी।

(११) बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के सेक्रेटरी का १२ नवंबर का पत्र उपस्थित किया गया जिसके साथ उन्होंने सभा भवन के उत्तर ओरवाली जमीन के बैनामे का मसौदा भेजा था।

निश्चय हुआ कि बाबू गौरीशंकर प्रसाद तथा पंडित गोविन्द राव जोगलेकर को अधिकार दिया जाय कि वे इस बैनामे में जो परिवर्तन आवश्यक समझें, उन्हें कराकर इसे स्वीकार कर लें।

(१२) मंत्री ने सूचना दी कि (क) बाबू मोहनलाल वर्म्मा के यहाँ तुलसी ग्रंथावली के दूसरे भाग की जिल्दबंदी हुई थी और इस

भाग की ७२ प्रतियाँ उनके यहाँ से कम आई हैं। उनका कहना है कि इंडियन प्रेस से इस पुस्तक के अनेक फार्म ही उन्हें कम मिले थे। पर इंडियन प्रेस ने लिखा है कि प्रत्येक फार्म की पूर्ण संख्या उन्होंने बाबू मोहनलाल को दी है। (ख) पुस्तकालय की उन पुस्तकों की सूची उपस्थित की गई जो बाबू मोहनलाल के यहाँ जिल्दबंदी के लिये भेजी गई थीं और उनसे खो गईं।

निश्चय हुआ कि (क) इंडियन प्रेस के पत्र की नकल बाबू मोहनलाल के पास भेजी जाय और जब तक उनके यहाँ से कम आई हुई पुस्तकों का निर्णय न हो जाय, तब तक उन्हें कुछ रुपया न दिया जाय। (ख) इन पुस्तकों का मूल्य उनसे लिया जाय।

(१) शाहपुरा के महाराज कुमार उम्मेदसिंह जी के कामदार और प्राइवेट सेक्रेटरी के पत्र उपस्थित किए गए जिनमें उन्होंने आय-व्यय का ब्योरेवार हिसाब स्टाक के ब्योरे के सहित माँगा था और विवेकानंद ग्रंथावली के जितने अंश का अनुवाद हो चुका है, उसे अवलोकनार्थ माँगा था। साथ ही मंत्री ने सूचना दी कि महाराज कुमार के यहाँ से इस वर्ष की दो किस्तों में से एक भी नहीं प्राप्त हुई।

निश्चय हुआ कि ज्ञानयोग का अनुवाद उनके पास भेज दिया जाय और बाबू श्यामसुंदरदास जी से प्रार्थना की जाय कि वे उनके पत्र का उचित उत्तर लिख दें।

(१४) मंत्री ने सूचना दी कि पंजाब गवर्नमेंट से हिंदी पुस्तकों की खोज के लिये सहायता देने के संबंध में अब तक कोई स्वीकृति नहीं आई और इस मद में सभा में अब आवश्यक धन नहीं रह गया। इस कारण पंडित जगद्धर गुलेरी एम० ए० निरीक्षक पंजाब को लिखा गया कि गत वर्षों की रिपोर्ट के लिख जाने पर वे पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित को जवाब दे दें। पर उस पत्र के पहुँचने के पहले ही वे पंडित भागीरथप्रसाद को बिदा कर चुके थे। इस पर मंत्री ने पंडित भागीरथ प्रसाद को लिखा कि जिस मिती तक उन्होंने काम किया है, उस मिती तक का बिल बनाकर वे भेज दें।

इस सम्बन्ध में पंडित भागीरथ प्रसाद का अगहन कृ० १० का जो उत्तर आया था, वह उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि पंडित भागीरथप्रसाद का पत्र धृष्टतापूर्ण है और उसमें उन्होंने स्वयं सभा की सेवा करने से अनिच्छा प्रकट की है। अतः उन्हें १५ दिन का वेतन और देकर अलग किया जाय।

(१५) हिंदी पुस्तकों की खोज के निरीक्षक राय बहादुर बाबू हीरालाल का आज्ञापत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने बाबू वासुदेव सहाय के कार्य से असंतुष्ट होकर उन्हें मुअत्तल किया था।

निश्चय हुआ कि यह आज्ञा स्वीकार की जाय।

(१६) कवि गोवर्द्धन गिल्ला भाई का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके पास जो हस्तलिखित पुस्तकें हैं, उनकी नकल वे सभा के लिये करवाकर भेज सकते हैं।

निश्चय हुआ कि उनसे हस्तलिखित पुस्तकों की सूची मँगवाई जाय और तब पुस्तकों की नकल करवाने के संबंध में विचार किया जाय।

(१७) प्रयाग के हिंदी नाटक पुस्तकालय का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सभा द्वारा प्रकाशित नाटकों की एक एक प्रति बिना मूल्य माँगी थी।

निश्चय हुआ कि उन्हें एक एक प्रति ½ मूल्य पर दी जा सकती है।

(१८) निश्चय हुआ कि रत्नाकर पुरस्कार इस वर्ष किस सज्जन को दिया जाय, इस संबंध में विचार करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की उप-समिति बनाई जायः—

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी,
पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय और
बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर।

(१९) बाबू कवींद्र नारायण सिंह का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने प्रश्न किया था कि क्या यह उचित है कि जिनसे

किसा विषय से संबंध हो, उन्हीं की अनुमति पर किसी बात का निश्चय हो। यदि नहीं तो कोश का अंक जो प्रकाशित हुआ है, वह क्यों और कैसे प्रधान संपादक और एक संपादक की ही अनुमति पर प्रकाशित हुआ।

निश्चय हुआ कि इस समिति ने गत अधिवेशन में जिन सज्जनों की सम्मति से कोश के अंक का प्रकाशित किया जाना निश्चित किया था, उनकी सम्मति पर समिति का निश्चय पूर्ण रूप से नियमानुकूल है। इसमें सभा का कोई नियम बाधक नहीं है।

(२०) साहित्योपसमिति का २६ भाद्रपद का कार्य-विवरण उपस्थित किया गया जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव थेः—

१—बाबू गुलाबराय से पूछा जाय कि वे अपने ग्रंथ का प्रूफ़ देखेंगे या नहीं; और उनका ग्रंथ लोडर प्रेस में छपने के लिये भेजा जाय।

२—"शिशुपालन" छपने के लिये भेजा जाय। लक्ष्मीनारायण प्रेस यदि न छाप सके तो उपमंत्री उसे और कहीं छपवाने का प्रबन्ध कर दें।

३—"नासिकेतोपाख्यान" और "रानी केतकी की कहानी" छपवाने का प्रबंध किया जाय। रानी केतकी की कहानी डबल क्राउन सोलह पेजी आकार में छपवाई जाय और इसके संपादक बाबू ब्रजरत्नदास नियत किए जायँ।

४—सभा द्वारा प्रकाशित सब पुस्तकों की एक एक प्रति सभा में जुदा रक्खी जाय और जो आवश्यक सुधार समय समय पर किए जायँ, वे उनमें लिख लिए जायँ। पुनः छपवाने के समय वे पुस्तकें सुधारों सहित छपवाई जायँ।

५—बाबू गोविंददास जी के Hinduism का अनुवाद सभा प्रकाशित न करे। यदि बाबू साहब उसे स्वयं प्रकाशित कराकर सभा की भेंट करें तो सभा सहर्ष उसे स्वीकार करे।

६—"सुबोध जैन दर्शन" के रचयिता ने उक्त ग्रन्थ का पुरस्कार,

१००) रु० लेना स्वीकार किया है। यह पुस्तक मनोरंजन पुस्तक माला के लिये ले ली जाय।

७—मालिक मुहम्मद जायसी का जोवन चरित्र जो पद्मावत के साथ छपेगा, अलग न छापा जाय।

८—पुस्तकों की बिक्री के संबंध में एजेंटों को नियुक्त करने के विषय में प्रबंध-समिति विचार करे।

९—अंग्रेजी के English Men of Letters Series के समान सभा से हिंदी कवियों और सुप्रसिद्ध लेखकों की आलोचनात्मक जीवनियाँ प्रकाशित की जायँ, पुस्तकें लगभग दस फ़ार्म की हों और मूल्य बारह आना रक्खा जाय, नियम मनोरंजन पुस्तकमाला के समान रक्खे जायँ। पंडित बलराम उपाध्याय बाबू श्यामसुंदरदास जी की सहायता से ऐसे कवियों और लेखकों की सूची अगले अधिवेशन में उपस्थित करें जिनकी जीवनी इस माला में प्रकाशित होनी चाहिए।

निश्चय हुआ कि ये प्रस्ताव स्वीकार किए जायँ, पर सूर्यकुमारी पुस्तकमाला में जिन पुस्तकों के जो भाग इस समय छप रहे हैं, उनके और कोई भाग वा कोई नवीन पुस्तक छपने के लिये तब तक न भेजी जाय जब तक कि महाराज कुमार उम्मेदसिंह जी की सहायता न प्राप्त हो जाय।

(२१) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

विशेष अधिवेशन

शनिवार २७ मार्गशीर्ष १९८१ (१३ दिसम्बर १९२४)

समय—संध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन।

(१) गत अधिवेशन (१३ मार्गशीर्ष १९८१) का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का १ दिसम्बर १९२४ का पत्र पढ़ा गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित के संबंध में गत अधिवेशन में जो निश्चय हुआ है, उस पर पुनः विचार करने के लिये प्रबंध समिति का एक विशेष अधिवेशन १३ दिसंबर १९२४ को किया जाय।

बाबू श्यामसुंदर दास जी ने प्रस्ताव किया कि पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित के संबंध की सब फाइल राय बहादुर बाबू हीरालाल के पास भेज दी जाय और वे इस संबंध में जो निश्चय करें, उसके अनुसार कार्य किया जाय।

बाबू माधवप्रसाद ने प्रस्ताव किया कि पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित जब तक अपना अगहन कृ० १० का पत्र लौटा न लें, तब तक प्रबंध समिति ने उनके संबंध में गत अधिवेशन में जो निश्चय किया है, वही ज्यों का त्यों रहे। पंडित बलराम उपाध्याय ने इसका अनुमोदन किया। इस प्रस्ताव के पक्ष में ४ सम्मतियाँ और विपक्ष में भी ४ सम्मतियाँ आईं। सभापति महोदय ने विपक्ष में अपना एक वोट अधिक दिया जिससे यह प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ।

अधिक सम्मति से बाबू श्यामसुंदरदास जी का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

(३) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

सूचना

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति ने १७ फाल्गुन १९८१ के अधिवेशन में यह प्रस्ताव किया है कि सभा के नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन किए जाँय:—

१—नियम ४५ में "एक मंत्री और एक उपमंत्री" के स्थान पर "एक प्रधान मंत्री और चार विभाग मंत्री" किया जाय।

२—नियम ५४ में "मंत्री" के स्थान में "प्रधान मंत्री" किया जाय और इस नियम में (क) के अन्तर्गत जो नियम है वह इस प्रकार बदल दिया जाय—"सब आवश्यक पत्र-व्यवहार अपने निरीक्षण में कराना तथा भिन्न भिन्न विभाग-मंत्रियों के कार्य्य की ऐसी व्यवस्था करना जिसमें सबका कार्य्य सुचारु रूप से सामंजस्यपूर्वक चले।"

३—नियम ५५ के स्थान पर निम्नलिखित नियम बनाया जाय:—

"विभाग मंत्रियों के कर्तव्य—प्रधान मंत्री के तत्वावधान में अपने अपने विभागों का सब प्रकार का प्रबन्ध करना और उसके लिये उत्तरदायी होना तथा प्रति तीसरे महीने अपने विभाग की रिपोर्ट प्रबन्धसमिति में उपस्थित करना।"

समिति के इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिये साधारण सभा का एक अधिवेशन शनिवार २१ चैत्र १९८१ (४ अप्रैल १९२५) को संध्या के ५ बजे सभाभवन में होगा।

ब्रजरत्न दास,

मंत्री

ल. ना. प्रेस, काशी।